वैदिक धर्म एवं संस्कृति

डॉ० धर्म चन्द्र विद्यालंकार

अमर ज्योति प्रकाशन, मेरठ

वैदिक धर्म एवं संस्कृति

लेखक :
डॉ० धर्मचन्द्र विद्यालंकार
(प्रवक्ता सनातन धर्म कॉलिज, पलवल)

वैदिक धर्म एवं संस्कृति का अधूनातम् वैज्ञानिक तथ्यों सहित विश्लेषणात्मक विवेचन ।

प्रकाशक :
अमर ज्योति प्रकाशन, मेरठ
(वैदिक साहित्य के प्रकाशक)

प्रकाशक :
- अमर ज्योति प्रकाशन
३०२, पंचशील गली नं० १
गढ़ रोड, मेरठ–२५०००२

- पुस्तक प्राप्ति स्थान :
डॉ० ओमदत्त शर्मा
३०२, पंचशील गली नं० १
गढ़ रोड, मेरठ–२
एवं
श्रीमति राजबाला आर्या
कृष्णा कॉलोनी, पलवल
फरीदाबाद (हरियाणा)

- प्रथम संस्करण १९८९
मूल्य : १०·०० रुपये मात्र

- मुद्रक : मित्तल प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ।

दो शब्द

पाठक वृन्द !

प्रस्तुत पुस्तक 'वैदिक धर्म एवं संस्कृति' में लेखक ने वैदिक धर्म एवं संस्कृति के यथार्थ स्वरूप का प्रमाण एवं युक्ति द्वारा सटीक विवेचन किया है। इस पुस्तक में उन समस्त प्रश्नों को प्रस्तुत करके उनका समाधान किया गया है जिनको लेकर जन सामान्य भ्रमित हो रहा है तथा केवल मात्र आडम्बरों को ही धर्म समझ बैठा है। इसके अतिरिक्त भारत वर्ष में प्रचलित तथाकथित धर्म के नाम से प्रचलित विविध विचारधाराओं का विश्लेषण करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वास्तव में भारतीय चिन्तन धारा का मूल स्रोत वेद है अतः वेद के मार्ग से चलकर ही समस्त समस्याओं का निराकरण होना सम्भव है।

लेखक अपने इस प्रयास में किस सीमा तक सफल रहा है यह निर्णय तो आप स्वयं इस पुस्तक का आद्योपरान्त अध्ययन करके ही ले सकते हैं किन्तु मेरा अपना यह मत है कि इस पुस्तक में लेखक ने अपनी अनूठी प्रतिभा का परिचय दिया है जिससे समस्त मानव समाज लाभान्वित होगा।

अतः आप से भी हमारा नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक को पढने के पश्चात् आप भी अपने विचार अवश्य व्यक्त कीजिये। हम आपके किसी भी प्रकार के सुझाव का स्वागत करेंगे। सधन्यवाद

प्रकाशक

विषय-सूची

अध्याय-१

धर्म क्या है ?

आज धर्म के नाम पर दुनिया में बड़ा भारी अन्धकार है। क्योंकि धर्म की बातें तो बहुत-सी की जाती हैं, परन्तु वास्तव में धर्म है क्या, यह बहुत कम लोग जानते हैं। आजकल तो धर्म के नाम पर बड़ा दिखावा होता है। बड़े-बड़े जागरण-व्रत्त और उपवास किये जाते हैं। खूब जोर-शोर से कथा-कीर्तन आदि होते हैं। पत्थर से बनी मूर्तियों पर अन्धाधुन्ध भोग चढ़ाये जाते हैं। पर्याप्त तीर्थाटन और दान-पुण्य भी किया जाता है। कितने ही लोग धर्म गुरु से अवतार तक बन बैठे हैं। लोग धर्म के नाम पर करते बहुत कुछ हैं; इसके बावजूद भी वे असन्तुष्ट और भ्रमित दीख पड़ते हैं। अतएव धर्म का सही अर्थ और स्वरूप समझने की नितान्त आवश्यकता है।

धर्म का अर्थ

धर्म शब्द का अर्थ धारण करना है। किसी भी चीज को हम अपनी धारणा (बुद्धि) शक्ति से धारण करते हैं। ऐसे नैतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक नियम जो समाज को धारण (संचालन) करते हैं, धर्म शब्द की धारणा के अन्तर्गत आते हैं। हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन भी इन्हीं से संचालित होता है। इनका धारण करना ही धर्म है।

धर्म का स्वरूप

धर्म के आदि स्वरूप के विषय में आधुनिक विद्वानों का मत क्या है—पहले इसे समझने की जरूरत है। आजकल के बहुत से विचारकों की मान्यता है कि मानव प्रारम्भ में प्रकृति के रहस्यों से पूरी तरह अनभिज्ञ था। क्योंकि उसे इनका अनुभव अभी प्राप्त नहीं हुआ था। उस समय जैसे ही कोई प्राकृतिक घटना घटित होती वह सहम जाता था। गरजते हुये बादल और कड़कती हुई बिजलियाँ उसके मन में आश्चर्य उत्पन्न कर देते थे। वह इन घटनाओं से जहाँ आश्चर्यचकित होता था। उसी तरह से आतंकित भी होता था। अतः उसने इनके भय और प्रकोप से त्राण पाने का उपाय सोचा। प्रकृति के अनुपम दृश्यों के पीछे मानव ने किसी सर्वोपरि परमसत्ता (Super Power) की कल्पना की। भय के भाव से वह उस सब कल्पित सर्वोच्च सत्ता के प्रति नतमस्तक हुआ। और उसने भय-भाव से उसकी पूजा-अर्चना करनी आरम्भ की। इन्हीं पूजा-पाठ या वीर-पूजा की प्रारम्भिक स्थितियों को पाश्चात्य वैज्ञानिक धर्म का आदि रूप मानते हैं। इसी आधार पर वे

अब विज्ञान द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर देने पर धर्म की आवश्यकता को अस्वीकार करते हैं।

किन्तु धर्म के स्वरूप के विषय मे भारतीय चिन्तन उपरोक्त विचारधारा से भिन्न है। तथा इसी भिन्नता के कारण भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा परस्पर भिन्न है। जहाँ कुछ पाश्चात्य भौतिकवादी दर्शन (प्रकृतिवादी) हैं—वहीं पर कुछ भारतीय आस्तिक दर्शन आध्यात्मवादी हैं। इन्हीं मूल दृष्टियों के कारण दोनों की चिन्तन-पद्धति में पर्याप्त मतभेद रहा है। भौतिकवादी पाश्चात्य विज्ञान-सृष्टि का विकास प्रकृति से मानते हैं। और प्रकृति के परिवर्तनों को ही वे सृष्टि-विकास का क्रम मानते हैं। उनके अनुसार मनुष्य भी प्रारम्भ में अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति अविकसित था। अर्थात् वह असभ्य और अज्ञानी था। इसलिए उसने अज्ञानवश प्रकृति की विभिन्न घटनाओं और क्रिया-कलापों से भयभीत होकर अपने को किसी अन्य बाह्य कल्पित परम सत्ता के आगे झुका दिया। परन्तु भारतीय वैदिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उसके अनुसार मानव प्रारम्भ में अज्ञानी या असभ्य नहीं था भले ही उसका सांसारिक अनुभव शून्य रहा हो। किन्तु प्रारम्भिक मानव ने जब अपने सम्मुख प्रकृति के विस्तृत मनोहारी दृश्य देखे अपने लिये सहज-सुलभ सुमधुर फल प्राप्त किये और कल-कल निनादित निर्मल निर्झरों का सुशीतल जल पाया तो वह आल्हादित हो उठा। और उसने कृतज्ञता और विनम्रता से भाव-विभोर होकर परम पिता (परम-सत्ता) के प्रति अपना अनुराग दिखाया। इसी भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति धार्मिक अनुष्ठानों से हुई।

धर्म का आधार

बहुत से आधुनिक विज्ञानों के अनुसार धर्म का आधार अस्थायी है। क्योंकि वे उसका आधार भय-आशंका अथवा अन्ध आस्था और अज्ञान को मानते हैं। जब-तक मनुष्य के मन में ये भाव रहते हैं तभी तक उसमें धार्मिकता का भाव रहता है। इसीलिए इन विज्ञानों ने धर्म को एक प्रकार का नशा या अफीम तक कहा है। जिस प्रकार से नशा एक विशेष समय तक उत्तेजित रखता है उसी प्रकार से उनके अनुसार धर्म भी। इन्हीं मन्तव्यों को आधार बनाकर बहुत से आधुनिक विज्ञान या विचारक या आधुनिक पीढ़ी के लोग नास्तिक बनते जा रहे हैं। और अनास्था, कुँठा, भय, सेंत्रास और मृत्यु भय से आशंकित होकर तनाव ग्रस्त हैं। उनका मन और आत्मा टूट चुके हैं इसीलिये या तो ये लोग विक्षिप्त (Half Mad) होकर विचरते हैं या आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करते हैं। या नितान्त व्यक्तिवादी और भोगवादी बनकर जीवन-यापन करते हैं। अपरिमित भोग विलास और ऐश्वर्य की चकाचौन्ध होते हुए भी अशान्त रहते हैं। तब शान्ति की खोज में भारत के तीर्थ-स्थलों या नदी-पर्वतों की उपलकाओं में सन्त-महन्तों के शरणागत होते हैं। अतएव उनका धार्मिक चिन्तन अपूर्ण है।

धर्म का जो नितान्त बाह्य स्वरूप है, वह अस्थायी और अहितकर हो सकता है। उसके सिद्धान्तों को दिखावे के तौर पर ऊपर-ऊपर से धारण करने पर ही धर्म एक प्रकार के नशे का कार्य करता है। यह नशा ही अन्धा धार्मिक उन्माद उत्पन्न करता है। इससे व्यक्ति जहाँ पर घोर आडम्बरी बनता है वहीं पर वह दूसरों (अन्य मतावलम्बियों) का परम विद्वेषी भी। क्योंकि वह तो धर्म के बाह्य खोल मात्र को धारण कर पाता है उसके तत्व-ज्ञान को नहीं। म्यान तलवार का कार्य कैसे कर सकता है ?

भारतीय वैदिक विचारधारा धर्म के बाहरी स्वरूप को महत्व नहीं देती। उसके अनुसार तो धर्म मानव के अन्दर वे दैवी गुण हैं जो उसमें स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। जैसे कि अग्नि में दाहकता। क्या बिना उष्णता के गुण के कोई आग को आग कह सकता है ? उसी प्रकार यदि मानवीय दिव्य-गुण भी मानव में न रहेंगे तो वह भी मानव कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसीलिए वेद में मानव के लिये उपदेश दिया गया है कि—"मनुर्भव" अर्थात् हे मनुष्य तू वास्तव में ही मानव बन। मनुष्य वास्तव में मानव धर्म को धारण करके ही बन सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्म की आवश्यकता

अंग्रेजी में एक कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है (Nacessity is the mother of Insertion) जब किसी चीज की जरूरत होती है। तभी उसके विषय में कुछ जानने की आवश्यकता होती है। और जहाँ पर जानने की चाह होती है; वहीं पर कुछ प्राप्ति की राह भी। संसार में प्रत्येक वस्तु अपना कुछ न कुछ प्रयोजन रखती है। निष्प्रयोजन वस्तु का कोई महत्व नहीं होता। धर्म का कुछ प्रयोजन है तभी तो उसकी इतनी महिमा हमारे सारे ही वेद-शास्त्रों में गाई गई है।

अस्तु धर्म ही वह विभेदक अथवा व्यावर्तक बिन्दू (Distinctive Point) है जोकि मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अर्थात् मनुष्य को दूसरे जीव-जन्तुओं से पृथक करता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अन्य जीवधारियों से उसकी विशेषता और महत्ता प्रकट करता है। किसी संस्कृत के कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिनराणाम्।
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषः
धर्मेण हीनः पशुभिः समानः॥

अर्थात् खाने-पीने, सोने और सुरक्षा की भावना, और सन्तानोत्पत्ति जैसे कार्यों में मनुष्य और पशु एक जैसे ही हैं, क्योंकि ये दोनों बातें दोनों में ही एक

समान हैं। किन्तु धर्म की भावना ही मनुष्यों में विशिष्ट है। जो उनको पशुओं से श्रेष्ठ सिद्ध करती है। जिन मनुष्यों में धर्म की भावना नहीं होती वे मनुष्य भी पशुओं के ही समान हैं। भाव यह है कि बिना धर्म के मनुष्य पशुओं के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता और मनुष्य कहलाने का अधिकारी भी नहीं हो सकता।

उपरोक्त कथन आज के सन्दर्भ में बड़ा ही सार्थक है। क्योंकि आज का मानव नितान्त पशुओं के स्तर पर जीवन जी रहा है। न उसकी कोई आस्था है और न ही कोई आचार-विचार की मर्यादा। वह केवल खाने, पीने, सोने और सन्तानोत्पत्ति के लिए जीवित है इससे बढ़कर उसका और कोई प्रयोजन या लक्ष्य नहीं है। ये सारी चीजें तो बेचारा अज्ञानी पशु भी करता है। हमारे और उसके इन कामों में स्तर का अन्तर तो हो सकता है परन्तु मूलतः दोनों की प्रक्रियायें समान ही हैं। तब आज के मनुष्य को कैसे मनुष्य कहा जाए ? किसी उर्दू के कवि ने ठीक ही तो कहा है—**"आदमी को भी मयस्सर नहीं है इन्सान होना"** इस प्रकार केवल मानव चोला पाना ही मनुष्यत्व नहीं है।

धर्म की महत्ता

सारे ही धर्मग्रन्थों में धर्म की महत्ता का गुणगान किया गया है। क्योंकि धर्म ही मनुष्य को दुनिया में रहने की कला सिखाता है। वह एक तरह से हमारे जीवन की आचार-संहिता (Code of Conduct) है। धर्म लोक और परलोक दोनों का ही साधक है। तभी तो कणाद् महर्षि ने वैशेषिक दर्शन में धर्म का लक्षण बतलाते हुए कहा है—**"यतो ऽभ्युदयः निःश्रेयस सिद्धि स धर्मो इति निश्चयः।"** जिससे सांसारिक (इहलौकिक) उन्नति और पारलौकिक सुख मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है। उपरोक्त लक्षण से यह बात स्पष्ट है कि धर्म केवल परलोक सिद्धि का ही साधन नहीं है। अपितु सांसारिक सुखों का आधार भी धर्म ही है किन्तु कुछ लोग संसार को मिथ्या मानकर परलोक (स्वर्ग) की ही चिन्ता में डूबे रहते हैं। इसके फलस्वरूप न तो उनका सांसारिक जीवन ही सुखी होता है और न ही पारलौकिक सुख अर्थात मोक्ष की ही प्राप्ति होती है। इन लोगों पर यही कहावत चरितार्थ होती है। कि **"दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम।"** क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं और धर्म दोनों का ही मार्ग हमको सुझाता है। अतः धर्म का एकांगी अर्थ लेना बड़ा घातक है जो हमको निष्क्रिय और दुखी बना सकता है। अतएव धर्म का सही अर्थ समझने की आवश्यकता है। आचार्य चाणक ने भी कहा है **"सुखस्य मूलं धर्मः"** अर्थात् सुख का कारण धर्म है। कई लोग धर्म को तर्क या विज्ञान का विरोधी समझते हैं और इसीलिये वे धार्मिक लोगों या बातों को प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी समझते हैं। ऐसी धारणा को रूढ़िवादी धार्मिकों ने ही पैदा किया है जो चुल्हे-चौके की पवित्रता को ही धर्म मान बैठे हैं। धर्म विज्ञान का विरोधी कदापि नहीं अपितु पूरक है।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का निम्नलिखित मन्त्र इस तथ्य का जीता जागता प्रमाण है—

"विद्यायां चाविद्यायां यस्तद्वेदोभयं सह,
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते ।"

अर्थात् जो विद्या (ब्रह्म विद्या) और अविद्या (विज्ञान) दोनों को साथ-साथ जाने या कहे वहीं पूर्ण ज्ञानी है। क्योंकि वही मनुष्य विज्ञान से सांसारिक दुखों को दूर कर सकता है और ब्रह्म-विद्या से अमरत्व को प्राप्त हो सकता है। तब धर्म विज्ञान का विरोधी कहाँ ?

धर्म के विषय में भौतिकवादी का विज्ञानवादियों का दूसरा आरोप यह है कि धर्म का आधार अन्ध आस्था है, तर्क नहीं; इसीलिए उसमें अन्ध-विश्वास और रूढ़िवाद को स्थान प्राप्त होता है। तभी धार्मिक जन प्रतिक्रियावादी होते हैं। परन्तु शायद उन्होंने धर्म के विषय में महाराज मनु के इस कथन को नहीं पढा-सुना या सोचा—**"यस्तर्केणानुसन्धते स धर्मो वेदनेतरः ।"** इसका भाव यह है कि जो तत्व तर्क के द्वारा खोजा जाए वही धर्म है अन्यथा नहीं। तब बताइये वैदिक-चिन्तन में धर्म के विषय में रूढ़िवाद के लिये स्थान कहाँ है। हमारे यहाँ तो एक प्रकार से कहावत प्रचलित रही है—कि **"वादे वादे जायते तत्वबोधः ।"** अर्थात् तर्क-वितर्क से ही तत्वज्ञान का निश्चय होता है। इसी आधार पर तर्क की तीन प्रणालियाँ वाद-जल्प और वितण्डा के नाम से प्रचलित थी। तब यह कहाँ पर लिखा है कि धर्म के विषय में जो भी कहा जाये वही सत्य है। आधुनिक तर्कशास्त्र (Logic) का आधार भी तो तीन प्रकार की वाद शैलियाँ—वाद (Thiesis) प्रतिवाद (Anti Theisis) और संवाद (Synthieses) है। जिनके अनुसार पहले ने एक बात कही दूसरे ने उसमें कुछ शंका और संशोधन किये और अन्त में दोनों एक तीसरे समन्वय बिन्दू पर सहमत होकर तत्वबोध पर पहुँचे। हमारे प्राचीन गुरूओं आचार्यों और ऋषियों की सम्वाद शैली भी तो यही थी।

सामाजिक सन्दर्भ में धर्म का स्वरूप

धर्म का जिस प्रकार से हमारे व्यक्तिगत जीवन में अपरिहार्य महत्व है उसी प्रकार से सामाजिक-जीवन में भी है। जहाँ अपने व्यक्तिगत जीवन में व्यक्ति धार्मिक गुणों से रहित होकर अपने को सुना ? और टूटा ? सा अनुभव करता है उसी प्रकार से सामाजिक जीवन में भी। आज हमारे समाज में जो नैतिक मूल्यों का ह्रास और आपा-धापी और उठा-पटक की भावना घर करती जा रही है उसका कारण धार्मिक मूल्यों का जीवन में अभाव ही है।

धर्म की सबसे बड़ी कसौटी **स्वात्मवत् व्यवहार** बतलाई गई है। उपनिषदों में कहा गया है—**"आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पश्यति"** अर्थात् जो सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा का दर्शन करता है वही सच्चा ज्ञानी और पण्डित है। और भा

कहा है—**"आत्मनः प्रतिकूलानि मा परेषां समाचरेत्"** जैसा अपने आत्मा के अनुकूल न हो वैसा दूसरों से न बर्ते, यथा—मैं नहीं चाहता कि मेरा कोई अपमान करे या मैं नहीं चाहता कि कोई मुझे मारे या सताए, मैं नहीं चाहता कि कोई मेरी कोई चीज चुराये, यदि यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता तब ऐसा ही बर्ताव मैं दूसरों के साथ करूँ। अर्थात् मैं भी किसी का अपमान न करूँ, किसी को न सताऊँ और मैं भी किसी की कोई चीज न चुराऊँ, इसी को धर्म कहा जायेगा और यदि इसी एक बात को अपना लें तो कितना अच्छा हो। इससे जहां मेरा व्यक्तिगत जीवन सुखी और संतोषपूर्ण होगा; वहीं पर सामाजिक जीवन में सुख और शान्ति का संचार होगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ इसी प्रकार से वर्त्ते, तो समाज के अन्दर कोई समस्या ही न रहे। न लड़ाई झगड़े हों और न ही और कोई संकट। समाज व्यक्तियों का समूह ही तो है। एक सामान्य समूह की तुलना में इस समूह में कुछ आपसी समझौता होता है जिसे हम सामाजिक समझौता (Social Contract) कह सकते हैं। इसी सामाजिक समझौते के अनुसार सारे समाज का संचालन होता है। इसी को हम सामाजिक या सामूहिक-धर्म कह सकते हैं। आज इस सामाजिक समझौते के सिद्धान्तों में शिथिलता आ रही है इसीलिए तो आज की सारी सामाजिक समस्यायें विकराल रूप धारण करती जा रही हैं। इस प्रकार धर्म के व्यक्तिगत और सामाजिक दो स्तर हुए। ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इन्हीं सामाजिक नियमों के स्थायित्व से व्यक्ति और समाज को भी स्थायित्व प्राप्त होता है। इसलिए कहा गया है **"धर्मो रक्षति रक्षितः, धर्म एकोहि तिष्ठति।"** क्योंकि सब सांसारिक चीजें अनित्य और अस्थायी हैं व्यक्ति के धार्मिक गुण ही चिरस्थायी और चिरस्मरणीय रहते हैं।

धर्म के प्रति अनास्था का कारण

धर्म के विषय में आज जो अनास्था या अश्रद्धा दिखाई पड़ रही है, उसके कारणों को जानने की जरूरत है। एक प्रकार से देखा जाये तो मध्यकालीन अन्ध श्रद्धा और अति आस्था ने ही आज की अनास्था और अश्रद्धा को उपजने का अवसर दिया है। मध्यकाल में धार्मिक कहे जाने वाले लोगों ने हर क्षेत्र में धर्माचार्यों को ही प्रमाण मान लिया। उनको पैगम्बर और अवतारों की मान्यता देकर उनके प्रत्येक कथन पर सत्यता व धार्मिकता की मुहर लगा दी। पश्चिम में वहाँ के गिरिजाघरों का पोप (पादरी) मृतक लोगों के लिए स्वर्ग में स्थान सुरक्षित (Booking) करता था। इसके एवज में मृतक के सम्बन्धियों से मनमाना धन ऐंठा जाता था। इतना ही नहीं धर्माचार्यों के अधिकार इतने अन्धे और निरंकुश हो गये थे कि वे राजा को भी चुनौती देते थे। जिससे श्रद्धा के स्थान पर संघर्ष की शुरूआत हुई। इतना ही नहीं आदि धर्मगुरु ने जो कुछ भी अपने तथाकथित धर्म ग्रन्थ में लिख दिया उसी को शाश्वत सत्य (Univercal truth) मान लिया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि नये अनुभव और आविष्कारों को तत्कालीन धर्माचार्यों ने नकार दिया क्योंकि वे बातें उनके धार्मिक पोथे में नहीं थी। इस प्रकार मध्यकालीन धर्म विज्ञान के विरोधी रूप

में आया। (गैलीलियों) जैसे वैज्ञानिक को इसलिए जलाकर मार दिया गया क्योंकि उसने पृथ्वी को गोल कहा था। जबकि बाइबिल में पृथ्वी चपटी (Flat) लिखी थी तब धर्म का विरोध होना स्वाभाविक ही था।

यही स्थिति मध्यकाल में हमारे यहाँ पर (भारत) में भी हुई। मनु महाराज ने जिस वेद को धर्म का मूल आधार बताया था उसका पढ़ना-पढ़ाना ब्राह्मण वर्ग ने छोड़ दिया। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए पुराण जैसी कपोल-कल्पित रचनायें रच डाली। उन्हीं के आधार पर धार्मिक कर्मकाण्ड में बाह्य आडम्बर और अनाचार को बढ़ावा मिला। मांस खाने के लिए देवों के नाम पर निरपराध पशुओं की बलि दी जाने लगी। जब महात्मा बुद्ध ने यह पूछा कि यह कार्य आप क्यों करते हैं, तो उत्तर मिला यह वैदिक कार्य है, वेद में ऐसा ही लिखा है। पूछा गया क्या यह पाप नहीं है ? तो उत्तर दिया गया कि "वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति।" अर्थात् वेदों में बतलाई गयी हिंसा, हिंसा नहीं होती। महात्मा बुद्ध ने कहा कि मैं ऐसे वेदों को कैसे मानूं ? तो फतवा दिया गया "**नास्तिको वेद निन्दकः**" वेद निन्दक नास्तिक है। उन्हें जान-बूझकर नास्तिक बना दिया गया।

आधुनिक काल में धर्म के प्रति अनास्था के कारण

आधुनिक काल में धार्मिक अनास्था के अनेक कारण दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक युग विज्ञान और उद्योग का युग है। आज कोई भी बात इसलिए नहीं मानी जाती कि वह किसी धर्मगुरु ने कही है या किसी धर्म ग्रन्थ में लिखी है। वरन् वह इस आधार पर सत्य और प्रामाणिक मानी जायेगी कि वह विज्ञान सिद्ध और तर्क-सम्मत है। आज शास्त्र का स्थान विज्ञान और श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया है। अस्तु !

मध्य काल के अन्त में योरुप में पुनर्जागरण (Renaissance) का युग आरम्भ हुआ। मानव ने मध्यकाल की घोर निन्दा से छुटकारा पाया। उद्योग और विज्ञान के नये युग में पदार्पण किया। विज्ञान के आविष्कारों से धार्मिक अन्ध-विश्वासों को झटका लगा। जो चन्द्रमा अब तक राहु केतु के द्वारा काटा गया धड़ रहित शिर था वह अब केवल एक मिट्टी का गोलाकार चमकता हुआ पिण्ड था। औद्योगीकरण से जीवन की व्यस्तता बढ़ी। व्यस्तता से धार्मिक-चिन्तन के अवकाश में कमी आयी। और मानव दिन प्रतिदिन आध्यात्मिक से भौतिकवादी होता गया। वह अब आत्मिक सुख से भौतिक सुख की ओर उन्मुख हुआ। इस प्रकार धार्मिक आस्था का ह्रास हुआ।

(१) **महायुद्धों की विभीषिका**—विज्ञान के नितनूतन आविष्कारों से मानव की सांसारिक समृद्धि बढ़ी। और उसकी लालसा भी। उसकी पूर्ति के लिए वह नये-नये ढंग के अस्त्र-शस्त्रों से युक्त हुआ। उसका अहम् प्रबल बना। राष्ट्रीय संगठनों के रूप में वह और भी उग्र रूप से उभर कर आया। जिससे दो विश्वयुद्धों की सृष्टि हुई। करोड़ों लोग बेघर और आहत हुए। लाखों अकाल काल कवलित हुए। संवेदनशील

चेतना सम्पन्न लोगों की ईश्वरीय आस्था को ठेस पहुँची। उन्होंने सोचा यदि ईश्वर होता और सारे मानव उसकी सन्तान होते तो वह अपने बेटों को इस प्रकार से लड़ता हुआ नहीं देखता। ईश्वर और मानव के अस्तित्व पर प्रश्न-चिन्ह लग गया।

इन्हीं परिस्थितियों में पश्चिम में अस्तित्ववादी दर्शन ने जन्म लिया। जोकि घोर अनास्था पर खड़ा हुआ। मानव की आस्था और विश्वास टूट से गये। इसी क्रम में अग्नि में घी का कार्य मार्क्सवादी भौतिक-दर्शन ने किया। उसने ईश्वर लोक-परलोक आत्मा परमात्मा सबको नकार कर इनकी आवश्यकता नहीं समझी। इन्हीं पाश्चात्य आधुनिक दर्शनों से प्रभावित होकर ही भारत की वर्तमान कालीन युवा पीढ़ी में भी धार्मिक अनास्था उपजी। जबकि दोनों की परिस्थितियाँ पर्याप्त भिन्न थी।

(२) भारत की परिस्थितियाँ—आधुनिक युग की शुरुआत भारत में देर से हुई। इसका कारण परतन्त्रता थी। जहाँ हम राजनैतिक, आर्थिक रूप से पराधीन थे वहीं पर वैचारिक रूप से रूढ़िवादी। धार्मिक विचारों का विकास सम्प्रदायों की चौखटों में बंधकर रह गया था। अपने-अपने सम्प्रदाय की संख्या-वृद्धि ही धर्माचार्यों का परम साध्य था। अपने-अपने सम्प्रदायों में गुरुओं और अवतारों को सर्वोपरि महत्व प्राप्त था। धार्मिक विषयों में वे ही परम प्रमाण बने हुए थे। किसी भी प्रकार के नैतिक का सैद्धान्तिक औचित्य को विचारने की गुंजाइश नहीं थी। धर्म के मामले में अकल का दखल नहीं था। सन्त महन्त और मठाधीश बनकर गुलछर्रे उड़ाते थे। सैकड़ों दास-दासियों से सेवित और पूजित होते थे। गुरुडम और अन्ध विश्वास पूरे जोरों पर था। देश-दशा और सत्य-धर्म की परवाह किसी को नहीं थी। सभी साम्प्रदायिक लोग स्वार्थपूर्ति में संलग्न थे। वेद रूपी मूल वृक्ष को छोड़कर नाना सम्प्रदायों रूपी शाखाओं के सिञ्चन में रत थे। 50 के लगभग सम्प्रदाय अकेले हिन्दू धर्म से प्रचलित थे। जिनके अपने-अपने अलग-अलग आराध्य देन और धर्मग्रन्थ थे। पूजा-पद्धति और दार्शनिक-चिन्तन भी बेमेल थे। आपस में मतवादी कट्टरता और घोर घृणा थी। धर्म का वास्तविक सत्य सभी की दृष्टि से ओझल था।

पूजा के नाम पर पत्थरों पर पुजापा चढ़वाना, श्राद्ध के नाम पर अच्छे-अच्छे माल उड़ाना ही पुजारी और पण्डितों का धार्मिक कार्य रह गया था। धर्म के नाम पर भोले भाले लोगों से मनमाना माल और पैसा ऐंठना सम्प्रदायवाद का इष्ट था। धार्मिक कर्मकाण्ड केवल एक रूढ़िवावी परम्परा मात्र वनकर रह गये थे। गऊ प्राप्ति की लालसा से पुरोहित होकर वैतरणी पार उतारने के नाम पर यजमान को ठगते थे। ऐसी स्थिति में धर्म का कार्य मानव के मन और आत्मा का सुधार नहीं था। धर्म एक ढकोसला बनकर रह गया था। तब हिन्दू धर्म से विरत होकर असंख्य लोगों द्वारा इस्लाम और ईसाइयत की शरण लेना स्वाभाविक था।

भारत में ऐसी ही परिस्थितियों में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लोगों को वेद-मार्ग से भटक कर मतवादियों के जाल में उलझे हुए पाया। वे इसे सहन नहीं कर सके और सत्य-सनातन वैदिक-धर्म के प्रचार-प्रसार में जुट गये। उन्होंने अपने को अवतार और धर्म आचार्य सिद्ध करने के लिए कोई नवीन मत पन्थ नहीं चलाया। उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है। उसी के व्यापक प्रचार के लिए उन्होंने आर्य समाज नामक संगठन की स्थापना की थी। अतएव वैदिक धर्म के ही सार्वभौम (Universal) स्वरूप पर चिन्तन की आवश्यकता है।

धर्म की कसौटी

जिन्हें आजकल धर्म कहा जाता है वे धर्म नहीं अपितु मत-पन्थ या सम्प्रदाय हैं। धर्म तो आनन्द और शाश्वत सिद्धान्तों का ही नाम हो सकता है। मत-पन्थ अनादि और शाश्वत कैसे हो सकते हैं। क्योंकि वे मनुष्यों द्वारा प्रचलित हैं। उनके चिन्तन का दायरा भी बड़ा शंकरा हैं। क्योंकि उनकी पहुँच किसी विशेष क्षेत्र और वर्ग तक सीमित होती है। तब मत शाश्वत और सार्वभौम कैसे हो सकते हैं। अतएव सच्चा शाश्वत धर्म कौन-सा हो सकता है—यह जानने की आवश्यकता है।

१ जनवरी १८७७ को जब दिल्ली दरबार का आयोजन किया गया था। उसी अवसर पर स्वामी दयानन्द ने सारे मत-पन्थों में एकता का प्रयास किया था। क्योंकि इन्हीं मत-पन्थों के कारण मनुष्यों की आस्थायें और विश्वास बटें हुए हैं। सारे साम्प्रदायिक झगड़े इसी भिन्नता के कारण होते हैं। उस अवसर पर स्वामी जी ने कुछ कसौटियाँ सार्वभौमिक और शाश्वत धर्म की सभी उपस्थित सम्प्रदाय के लोगों के सम्मुख रखी थी। जो निम्न प्रकार से थी—

—वह सबसे पहला (सृष्टि के आरम्भ का) और पुराना हो।

—उसके सिद्धान्त सत्य और तर्क संगत हों।

—सभी स्थान और समय के लोगों के लिए हो।

—सर्व सुगम भाषा में लिखित हो।

हमें इन्हीं पर नीचे विचार करना है।

(१) **सर्वप्राचीनता**—हम सारे ही तथाकथित धर्मों के इतिहास पर दृष्टि डालकर देख सकते हैं। वेद संसार की सबसे प्राचीन कृति है। भारतीय वैदिक परम्परा के अनुसार वेदों की रचना सृष्टि के आरम्भ में हुई थी। उसके अनुसार सृष्टि की रचना को लगभग 2 अरब वर्ष होने जा रहे हैं तभी परम पिता परमेश्वर ने वेदों का ज्ञान मनुष्य मात्र के लिए दिया था। आधुनिक इतिहासकार भी वेदों को सबसे प्राचीनतम पुस्तक स्वीकार करते हैं। विश्व के पुस्तकालय में ऋग्वेद ही सर्वप्रथम प्राप्त साहित्य है। अतएव उससे जो सिद्धान्त प्रचलित हुए वही वैदिक धर्म के नाम से जाने जाते हैं वही सबसे पुराने हैं।

अन्य सम्प्रदायों में पारसीयन ४५०० वर्ष, यहूदी, ४००० वर्ष, बौद्ध जैन २५०० वर्ष, ईसाई लगभग २००० वर्ष और इस्लाम कुल १५०० वर्ष ही पुराने हैं। तब उनको शाश्वत कैसे कहा जाये।

(2) सत्यता और तर्क संगतता—वेद परमपिता सर्वज्ञ परमब्रह्म की कृति है अतएव उनमें असत्यता और असंगति जैसे दोष नहीं हो सकते। क्योंकि उनका ज्ञान अनन्त और सार्वकालिक है। जबकि अन्य धर्म या सम्प्रदाय मनुष्यों द्वारा प्रवर्तित हैं। मानव स्वभाव से अल्पज्ञ है। उसका ज्ञान शाश्वत सत्य और पूर्ण संगत कैसे कहा जा सकता है।

(३) सार्वकालिकता और सार्वदेशिकता—वेदों का ज्ञान अनादि और शाश्वत होने से सभी कालों में विद्यमान है। पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा साथ ही वह सभी स्थान या देशों के लोगों के लिए भी है वह किसी भी देश या काल विशेष के लोगों के लिए ही नहीं है। वेद में स्पष्ट लिखा है '**शृण्वन्तु ते विश्वेऽमृतस्य पुत्राः**। यहाँ पर सारे संसार के लोगों को ईश्वर ने अपनी सन्तान कहा है उन्हें हिन्दु मुसलमान या ईसाई कहकर नहीं पुकारा। जबकि अन्य धर्मों के धर्मग्रन्थों में केवल एक जाति और एक स्थान विशेष के लोगों के लिए ही उपदेश दिये गये हैं। उन्हें हम सार्वजनिक या सम्पूर्ण मानवीय नहीं मान सकते।

(४) सर्व सुगमता और सर्वसुलभता—जो धर्म ऐसी भाषा में लिखा हो जो सभी के द्वारा पढ़ी जा सकती हो, वही सारे संसार के मनुष्यों का धर्म हो सकता है। अन्य सारे ही मत विशेष भाषाओं में लिखे हैं जो एक स्थान और काल विशेष के लोगों के द्वारा ही समझी जा सकती है। जबकि वेद, संस्कृत भाषा में लिखित हैं। संस्कृत सारी भाषाओं की जननी है। अत: वेदों को ही आदि धर्मग्रन्थ और वैदिक धर्म को ही मूल धर्म माना जा सकता है। और मत पन्थ तो उसके एकाध सिद्धान्त को लेकर शाखा की तरह है।

(५) मूल मान्यतायें—सारे ही मत-पन्थों में कुछ बातें अच्छी हो सकती है। उनके वाह्य कलेवर (खोल) के नीचे जो उनका तत्वज्ञान है उसमें ये देखी जा सकती है। जहाँ पर एका-एक अच्छी बात है वहीं पर उनमें अनेकों असत्य और अहितकारी बातें हैं। इसीलिए वे त्याज्य हैं। और वैदिक धर्म जो सारे ही मत-पन्थों का मूल हैं—शाश्वत सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादक है—वही ग्राह्य है। धर्म के वाहरी आचारों पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, उपवास, जपकीर्तन को छोड़कर जो उसकी मूल मान्यताएँ हैं उन्हीं पर हमें यहाँ विचार करना है। मनु महाराज ने "**वेदोऽखिलो धर्म मूलं सर्वज्ञान मयोहि सः**" कहकर वेदों के अनुसार धर्म के निम्नलिखिन दश लक्षण या नियम गिनाये हैं।

"धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रयं निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

अर्थात् धैर्य या सहनशीलता की भावना, जीव मात्र पर दया (सेवा) भाव,

रखना, मन को वश में रखना, चोरी न करना, आन्तरिक और बाह्य स्वच्छता, इन्द्रियों का संयम रखना, बुद्धि पूर्वक कर्म करना, विद्या की प्राप्ति करना, सदैव मन वचन और कर्म से सत्याचरण करना और किसी भी प्राणी पर क्रोध या हिंसा घृणा न करना—ये धर्म के १० मूलभूत शाश्वत सत्य सिद्धान्त हैं। जिनसे मानव मात्र का कल्याण सम्भव है। यही वैदिक धर्म की मूल मान्यताएँ हैं।

वैदिक धर्म की विशेषतायें

(१) **कर्मवादिता**—वैदिक धर्म आशावादी है निराशावादी नहीं क्योंकि उसमें जीव को कर्म करने का स्वतन्त्र अधिकार है। अत: वह अच्छे कर्मों द्वारा अपना जीवन सुखमय बना सकता है। जबकि अन्य मतों में कर्म की स्वतन्त्रता नहीं दी गई। फल प्राप्ति के लिए उन्हें अपने पैगम्बरों, अवतारों या रसूलों की सिफारिश लगानी पड़ती है जबकि यहाँ पर **"जैसा कर्म वैसा ही भोग"** का सीधा सच्चा सिद्धान्त है। अत: वैदिक धर्म भाग्यवादी भी नहीं। उसने कर्म की स्वतन्त्रता का शस्त्र मनुष्य के हाथ में देकर उसे अपना भाग्य विधाता स्वयं बनाया है और उसकी महत्ता को अक्षुण्ण रखा है।

(२) **ज्ञानवाद, अन्ध भक्तिवाद नहीं**—वैदिक धर्म ज्ञान पर बल देता है। ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है। बुद्धि का विषय तर्क है और तर्क से ही सत्य ज्ञान का निश्चय होता है। वैदिक धर्म में निरे गुरुड़म को कोई ध्यान नहीं है कि धर्माचार्य ने जो कह दिया वह आँख मूँद कर स्वीकार कर लिया। इसीलिए यहाँ पर ढोंग और आडम्बर तथा अन्धविश्वास की भी गुंजाइश नहीं है।

(३) **विकासवाद, सम्प्रदायवाद नहीं**—वैदिक धर्म में ज्ञान की परम्परा का स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा निरन्तर विकास हुआ है। वेदों की संहिताओं से लेकर आरण्यक, सूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद लिखे गये। जबकि अन्य मत सम्प्रदाय वादियों में उनका ज्ञान ज्यों का त्यों स्थिर है।

(४) **वैदिक धर्म अन्ध विश्वासवादी नहीं है**—एक-एक वैदिक सिद्धान्त पर शास्त्रों में सुदीर्घ चिन्तन मनन किया गया है। तभी उन पर आस्था जमती है परन्तु अन्य मतों या मजहबों में ऐसा नहीं है। वहां बिना सोचे विचारे और तर्क की कसौटी पर कसें ही किसी बात को सत्य मान लिया जाता है। वैदिक धर्म के विषय पाश्चात्य विज्ञान W. D. Bron ने लिखा है—

The Vedic Religion recognises put one goel. It is a thoroughly scientific religion where religion and science meet hand in hand."

(५) **त्यागवादी है, भोगवादी नहीं**—वैदिक धर्म आचार पर बहुत जोर देता है यहाँ तो 'आचारो परमो धर्म:' तक कहा है। सदाचार में त्याग का सर्वप्रथम स्थान है। त्याग भावना से कर्म करना। मात्र भोग भोगने के लिये जीना वह नहीं सिखाता;

क्योंकि वह आध्यात्मवादी है निरा प्रकृतिवादी नहीं है । यहाँ सन्तोष पर बल दिया गया है ।

(६) **अहिंसावादी है, हिंसावादी नहीं**—वैदिक धर्म में कभी जीवों को अपनी आत्मा की तरह से देखने और बर्तने का उपदेश है । जो सब जीवों में अपने ही जैसा आत्मा देखेगा वह कभी भी हिंसक नहीं हो सकता । इसीलिए यहाँ पर वैचारिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता है; एकाधिकार वाली प्रवृत्ति नहीं है । इस प्रकार से वैदिक धर्म ही सम्पूर्ण शाँश्वत सत्य सनातन मानव धर्म है ।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता; एक दृष्टि

भारतीय संविधान का धर्म निरपेक्ष शब्द स्वयं में अस्पष्ट सा है । क्योंकि इसकी कोई सकारात्मक अवधारणा नहीं दिखाई देती । धर्म से ही जो निरपेक्ष (रहित) हो ऐसा राज्य— यह कैसे हो सकता है और यदि हो सकता है तो क्या इसका अर्थ हम यह मानें कि अधर्म का राज्य ? धर्मनिरपेक्ष का अर्थ तो यही होना चाहिए । धर्म से निरपेक्ष तो राज्य हो ही नहीं सकता क्योंकि धर्म तो वे सार्वभौम सार्वजनिक नियम हैं जो सम्पूर्ण समाज का धारण और संचालन करते हैं । इसीलिए महाभारत-कार ने धर्म की परिभाषा करते हुये कहा कि "धारणा धर्म इत्याहु ।" अर्थात् इसी धारणा शक्ति के कारण उसे धर्म कहा जाता है । क्योंकि धर्म के अन्तर्गत आने वाले सत्य सनातन और उदात्त उद्देश्यों ओर मूल्यों के ही द्वारा समाज स्थिर सुखी और शान्त रहता है । अन्यथा समाज में अराजकता और अशान्ति का साम्राज्य व्याप्त हो जाये । राज्य जो समाज का एक अंग है और प्रमुख प्रतिनिधि संस्था है वह कैसे सर्वथा धर्मविहीन हो सकती है ? यह समझ में न आने वाली बात है ।

धर्म और मत में भी अन्तर है । धर्म का सम्बन्ध जीव मात्र से है; जबकि मत का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष से ही हो सकता है । धर्म शाश्वत चिरन्तन नियमों का नाम है और मत किसी एक व्यक्ति के अपने तत्कालिक या सामयिक विचार हैं । अतएव मत धर्म का कोई अंग मात्र ही हो सकता है, स्वयं में सम्पूर्ण धर्म कदापि नहीं । दीपक प्रकाश का एक छोटा स्रोत हो सकता है; लेकिन स्वयं पूर्ण प्रकाश नहीं । इसी अवधारणा को न समझने के कारण धर्म और मत की मान्यता को एक समझ लिया गया है । जो कदापि उचित और विवेकपूर्ण नहीं हो सकती । जिस प्रकार से अग्नि का गुण दाहकता है, जल का गुण शीतलता है; उसी प्रकार से मानव का गुण तो मानवता है । और मानव का धर्म है मनु द्वारा व्याख्यायित वैदिक धर्म । ये सब और मतमतान्तर तो उसी की डार-पांत हैं । तो भी धर्म-निरपेक्षता के स्थान पर सर्वधर्म समभाव या सर्व-सम्प्रदाय-समभाव होना चाहिए ।

संविधान प्रदत्त धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप—भारतीय संविधान में सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं । संविधान के १९वें अनुच्छेद के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों का प्रावधान है । जिनके अन्तर्गत सबको समान रूप से—सम्पत्ति, शिक्षा, धर्म, संस्कृति और मत देने के अधिकार प्राप्त हैं । सभी को समान रूप से

आजीविका के अवसर देने का भी वचन दिया गया है। और एक प्रतिज्ञा की गई है कि भारतीय संविधान लिंग-जाति या धर्म या प्रान्त के आधार पर किसी से किसी भी तरह का भेदभाव नहीं करेगा। सभी नागरिकों को समान रूप से मान्यता देकर इकहरी नागरिकता का प्रावधान है। इस सब के बावजूद संविधान में यह भी लिख दिया गया कि भाषा या धर्म के आधार पर जो लोग अल्पसंख्यक हैं उनकी विशेष सुरक्षा का ध्यान रखा जायेगा। यह भी ठीक है। लेकिन इतना ही नहीं लिखा है आगे यह भी लिखा है कि उन अल्पसंख्यक लोगों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त रहेंगे। जिनके अन्तर्गत उन्हें विशेष सुविधायें दी जायेंगी। और ऐसा केवल लिखा ही नहीं गया बल्कि सचमुच किया भी गया। तब बताइये संविधान सम्मत मौलिक अधिकारों का क्या महत्व रहा। सब नागरिकों की समान नागरिकता कहाँ रह गयी? क्या कुछ लोगों को विशेषाधिकार दिये जाने से दूसरे लोगों के मौलिक अधिकारों का हनन नहीं होता? केवल इसी आधार पर कि वे अनुपात में कम हैं—उन्हें विशेष सुविधायें या बढ़कर महत्व दिया जाये और दूसरों को उन सुविधाओं से केवल इसीलिये वंचित रखा जाय क्योंकि वे बहुसंख्यक हैं। यही उनका अक्षम्य अपराध है। यह कहाँ की समानता है?

इतना ही नहीं अल्प-संख्यक आयोग बनाकर तो सरकार के इस विष वृक्ष को और भी हरा-भरा बना दिया है। सभी वर्गों के समान परिस्थितियों वाले लोगों के लिये मानवाधिकार आयोग जैसी कोई चीज तो समझ में आ सकती है। लेकिन अल्प-संख्यक आयोग जैसे उपक्रमों की क्या तुक है? यह समझ में नहीं आता।

दिखावटी धर्मनिरपेक्षता का प्रतिफल—

इस बनावटी धर्मनिरपेक्षता के कारण समाज में वर्ग विद्वेष बढ़ा है। सुविधाओं और अधिकारों की लूट के लिये होड़ लग गयी है। अब सभी वर्गों और सम्प्रदाय के लोगों ने अपने आप को अल्पसंख्यक कहना शुरू कर दिया है वे चाहें जैन हों या बौद्ध। अकाली हों या रामकृष्ण मिशन वाले आज सभी तो अल्पसंख्यकों की कतार में खड़े होने के लिये उतावले हो रहे हैं। खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है। इससे भारतीय राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में बिखराव आया है। टूटन और घुटन बढ़ी है और जलन बढ़ी है। लेकिन हमारे सत्ताधीशों को इस सब से क्या लेना देना है। उनका अपना उल्लू सीधा होना चाहिये। उन्हें किसी भी कीमत पर औरों से (विपक्षियों से) अधिक वोट चाहिये अपनी कुर्सी सही सलामत चाहिये। आन्दोलन दंगे-फसाद मार-पीट, आग लगाना जैसी चीजें तो आज इनके लिये **रोजमर्रा** की बातें बन गई हैं। इसलिये वे इन्हें ज्यादा महत्व नहीं देते।

लेकिन इस **तुष्टिकरण** की समझौतावादी नीति ने क्या-क्या गुल भारत में खिलाये हैं—वह सब हम देख चुके हैं और भुगत रहे हैं। क्या आसाम इसी नीति के कारण ६ वर्ष तक नहीं जलता रहा। क्या पंजाब अल्पसंख्यक आयोग के बनते ही अब तक नहीं धधक रहा है। नयी-नयी माँगें आज चारों ओर उठती सुनाई दे रही

हैं। कहीं पर खालिस्तान की माँग जोर पकड़ती जा रही है, तो कहीं पर उर्दू को दूसरी राज्य-भाषा का दर्जा दिलाने के लिये आन्दोलन कर रहे हैं। दूसरा वर्ग उसके प्रतिवाद में आन्दोलन चलाने की तैयारी कर रहा है। कहीं पर अलग नागालैंड देश की माँग उठ रही है, तो कहीं पर मिनी पाकिस्तान की। आखिर इन विषैले व्यानों को हमारी यह धर्मनिरपेक्षता का मुखौटा ओढने वाली सरकार ही तो पाल रही है क्योंकि इसकी परम्परागत नीति रही है। फूट डालो और राज्य करो आखिर कब तक यह कुनीति चल पायेगी ? यह देखना है।

भाषा की समस्या

आज राज-भाषा सम्बन्धी जो विवाद चल रहा है, वह विचारणीय है। हिन्दी को भारत की राष्ट्र भाषा घोषित कर दिया गया। लेकिन यह केवल लिखने-लिखा भर को ही किया गया। व्यवहार में ऐसा कहाँ हुआ। आज की हिन्दी के सिर पर अंग्रेजी की नंगी तलवार लटकी हुई है। वह स्वदेश और स्वराज में भी अनन्तकालीन वनवास भोग रही है—

"गंगा सी वह परम पुनीता।
हिन्दी बनी वनवासिनी सीता ॥"

इतना ही नही उसको राज-भाषा राष्ट्रभाषा न बनने देने के लिये उसके विरुद्ध क्षेत्रीय भाषा भाषी लोगों को उकसाया जा रहा है कि यदि हिन्दी राजभाषा बन गयी तो तुम्हारी क्षेत्रीय भाषाओं का क्या होगा ? उधर अल्प संख्यकों को भड़काने के लिये कहा जाता है। उन्हें कहा जाता है कि हिन्दुओं की भाषा ही हिन्दी है तुम्हारी नहीं। दक्षिण वालों को कहा जाता है यह उत्तर वाले आर्यों की भाषा है क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानते हुए इसे आर्य भाषा के नाम से विभूषित किया था। लेकिन महाशोक ! इस सब के बावजूद भी हिन्दी को वह महत्व कहाँ मिला है। हमारे शासक लोग राष्ट्रभाषा विरोधी लोगों को बड़े गर्व के साथ आश्वासन देते हुये कहते हैं कि हिन्दी किसी पर थोपी नहीं जायेगी। यदि हिन्दी को राज-कार्यों में लागू करना थोपना है, तब तो कल को संविधान का कोई भी कानून आरोपित माना जा सकता है। क्योंकि संविधान द्वारा तो हिन्दी को मान्यता प्राप्त हो गयी है। अब तो व्यवहार में लाने की समस्या है। जिसे सरकार अपने दोहरे समझौतापरस्त चरित्र की दुर्बलता के कारण नहीं कर पा रही।

आश्चर्य की बात तो यह है कि भाषाओं का सम्बन्ध वर्ग विशेष से जो जा रहा है। हम पूछना चाहेंगे क्या सभी प्रान्तों के मुसलमान उर्दू ही बोलते हैं क्या सभी राज्यों के हिन्दू हिन्दी ही बोलते हैं ? क्या ईसाई अंग्रेजी ही बोलते हैं? नहीं ऐसा बिल्कुल भी नहीं है।

भाषा का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष से तो हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक भाषा बोली का अपना विशेष क्षेत्र है, जहाँ पर उसके बोलने वाले अधिसंख्य हैं। लेकिन वर्ग या सम्प्रदाय पूरा का पूरा किसी विशेष भाषा को ही बोलता हो—ऐसा नहीं

हम पूछते हैं क्या पूर्वी यू पी का मुसलमान उर्दू ही बोलता है। अवधी या भोजपुरी नहीं बोलता ? क्या बिहार का मुसलमान उर्दू बोलता है ? नहीं यदि कोई ऐसा कहता है तो यह सरासर झूठ है। बिहार का सारा मुसलमान वहाँ की क्षेत्रीय भाषा मैथिली या बघेली बोलता है। हम पूछना चाहते हैं क्या पंजाब का हिन्दू हिन्दी बोलता है ? वह भी तो पंजाबी ही बोलता है, तब पंजाबी को मात्र सिखों की ही भाषा कैसे माना जा सकता है। परमात्मा के लिये कम से कम भाषा जैसी पवित्र वस्तु को तो इस साम्प्रदायिकता की आग से बचाइये। उर्दू किसी के माथे का तिलक नहीं देखती। और हिन्दी किसी के बालों में लगे हुये खिजाब से कब खिजती है। भाषा तो उसी की है जो उसे बोले—अपनाए। वह हिन्दू हो या मुसलमान से (आखिर) इससे फर्क भी क्या पड़ता है। और फिर हमें तो उर्दू से वैसे भी कोई अदावत या परहेज नहीं। वह तो हमारे अपने घर में पैदा हुई बेटी की तरह है। उर्दू भारत में ही बनी और फूली फली जवान है। वह तो हिन्दी की ही एक विशेष शैली है। स्वतन्त्र रूप से पूर्ण भाषा भी नहीं है। उसका तो हिन्दी से चोली दामन का साथ रहा है। बिना हिन्दी के उसका अस्तित्व ही कहाँ है। आखिर बिना माँ के बेटी हो भी कैसे सकती है। यह ठीक है कि बेटी कितनी ही सुन्दरी और सुलक्षणा क्यों न हो लेकिन वह माँ का स्थान नहीं ले सकती। माँ तो माँ ही होती हैं। हिन्दी स्वतन्त्रता के दीवानों की भाषा है और उर्दू फिर भी बादशाहों के दीवानों के दरबार में पली है। फिर उसमें अरबी अरब फारसी के शब्द इस कदर ढूंस-ढूंसकर भर दिये गये हैं जैसे कि विदेश से बन-ठन कर आयी हो। हिन्दी हमारी सांस्कृतिक भाषा है। जन-मन की भाषा है। वह संघर्ष में फंसी है लेकिन प्यार का सन्देश देती रही है। उसका त्याग करना आत्मघात ही होगा।

इसके बावजूद भी हिन्दी केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं है वह हिन्दी प्रदेशों के अन्तर्गत आने वाले मुसलमानों की भी भाषा है तब उससे गुरेज क्यों ? और फिर अब तो वह राष्ट्रभाषा बन गई है, तो क्या उसका विरोध करना राष्ट्र-द्रोह नहीं है। उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा नहीं, हिन्दुओं ने भी उसके साहित्य के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है। उसे सजाया है सँवारा हैं। उसे एक सम्प्रदाय विशेष से जोड़कर दूसरी राज भाषा के लिये आग्रह क्यों किया जाता है। यदि सम्प्रदाय से जोड़ कर देखें तो भी किसी भी प्रदेश में मुसलमानों की संख्या ३० प्रतिशत नहीं है; जो उसे संविधान के अनुसार उसे राज्य-भाषा का दर्जा दिया जाये। हाँ, काश्मीर में वह यद्यपि आम जनता की भाषा नहीं तो भी मुसलमानों की आबादी बहुमत में होने के कारण राज भाषा है। कम से कम संविधान की धज्जियाँ तो साम्प्रदायिक आवेश में भर कर नहीं उडाई जानी चाहिये।

एक ओर हम धर्म निरपेक्षता की बात करते हैं, दूसरी ओर 'नागरिकाधित संहिता (Civil code) आज तक समान नहीं है। हिन्दुओं के लिये हिन्दू-कोडबिल और मुसलमानों के लिये अलग से पर्सनल-ला है। शरीयत के अनुसार फैसला देना

है तो समान कानून और समान नागरिकता कहाँ रही। फैसला चाहे जितना मानवीय हो—यदि शरीयत के अक्षरशः अनुकूल नहीं है, तो बवण्डर उठा दिया जाता है। शाहबानों के केश में यही तो हुआ है। केन्द्रीय मन्त्री तक साम्प्रदायिक आदेश में उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को चुनौती दे चुके हैं। तब कहाँ रही उच्चतम न्यायालय की सर्वोच्चता और न्याय पालिका की स्वायत्ता। प्रधान मन्त्री तक उच्चतम न्यायालय के मानवीयतापूर्ण फैसले के खिलाफ मुसलमानों को आश्वासन देते फिर रहे हैं। क्या यही धर्मनिरपेक्षता है कि सब कुछ एक सम्प्रदाय विशेष के अनुसार ही होगा।

इस सब की धाय है राजनीति। राजनीति धर्म निरपेक्ष होनी चाहिये। एक ओर हम साम्प्रदायिकता के निवारण की बात करते हैं दूसरी ओर साम्प्रदायिक दलों को चुनाव में लड़ने की मान्यता देते हैं। क्यों देते हैं जब हमने संविधान में यह संकल्प लिया है कि राज्य में किसी भी धर्म (मत) का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। शादी-ब्याह और परिवार नियोजन के मामलों में भी साम्प्रदायिकता है। तब आखिर धर्म निरपेक्षता है कहाँ ? वह केवल हिन्दुओं के लिये है औरों के लिये नहीं है। हमारे साथ यह हुआ है—हमें ही जगह नहीं है अपने आशियाने में !

समाज मानवों का एक नैतिक और भावात्मक संगठन है। समाज की अपनी कुछ मान्यताएँ और परम्पराएँ होती हैं, जिनके कारण समाज का प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संगठन सूत्र में बंधकर सामाजिक निर्माण प्रक्रिया में योगदान देता है।

जहाँ सामाजिक मन्न्यताएँ या रीति-रिवाज किसी समाज या वर्ग जाति का संगठन करते हैं वहाँ पर वे एक स्थिति में पहुँचकर विघटनकारी भी सिद्ध होने लगते हैं। यह स्थिति किसी भी स्वस्थ्य परम्परा या मान्यता की विकृत स्थिति है। जो रूढ़िवादिता को और भेदभाव को जन्म देकर समाज को विकलांग बनाती हैं। सामाजिकोन्नति में बाधक सिद्ध होती है। भारतीय समाज अपेक्षाकृत कुछ अधिक रूढ़िवादी रहा है, अतएव हमारे समाज में जहाँ जाति-पाँति, अनमेल विवाह, जैसी सामाजिक बुराइयाँ रही हैं वहाँ पर साम्प्रदायिक बुराई भी गहनता से व्याप्त है इसी पर हमको यहाँ विचार करना है।

सम्प्रदाय का अर्थ और ग्रहण—सम्प्रदाय शब्द सम् और प्र उपसर्ग पूर्वक दा दाने धातु से निष्पन्न होता है जिसका व्युत्पत्ति दाय अर्थ है सम्भवतया प्रकर्षेण दीयते इति सम्प्रदायः अर्थात् परम्परा या विरासत। क्योंकि एक पीढी या पुरानी पीढी का अगली या नव पीढी के लिये जो दाय है देय है वही सम्प्रदाय है।

इस प्रकार सम्प्रदान की यह प्रक्रिया कभी समाप्त होने वाली नहीं है क्योंकि कोई समाज चाहे कितना ही विकासशील क्यों न हो उसकी पुरानी पीढी अपनी आगे आने वाली पीढी को कुछ न कुछ देती ही है। अतः यह प्रक्रिया शाश्वत है और स्वस्थ भी है क्योंकि इसके माध्यम से हम अपने इतिहास संस्कृति और पूर्वजों से जुड़े रहते हैं। जिन संस्कृत संस्कारों को एक पीढी पुरानी पीढी से ग्रहण करती है

वही संस्कृति है। इस प्रकार यह एक चिर पुरातन और गतिशील तत्व है इसी को दूसरे शब्दों में सम्प्रदाय कह दिया जाता है लेकिन दुर्भाग्य का विषय है कि आज सम्प्रदाय का अर्थ कुछ बद्धमूल रूढ़ धारणाओं से आबद्ध होकर संकुचित बन कर रह गया है आजकल सम्प्रदाय का अर्थ अनुदार, असहिष्णु मत-मतान्तरों की सीमाओं में परिबद्ध होकर रह गया है। यही सबसे बड़ी विड़म्बना है। सम्प्रदाय धर्म का पर्याय नहीं हो सकता क्योंकि धर्म के अन्तर्गत किसी समाज की आत्मा परमात्मा और जगत सम्बन्धी उनकी पुरातन और शाश्वत धारणायें आती हैं; जबकि सम्प्रदाय एक विशुद्ध गतिशील तत्व है। धर्म जहां अपेक्षाकृत व्यक्ति सापेक्ष है; सम्प्रदाय वहां पर नितान्त समाज सापेक्ष है। दो व्यक्तियों की धर्म सम्बन्धी मान्यतायें किन्हीं कारणों से भिन्न हो सकती है; पर दोनों की साम्प्रदायिक भावनायें समान होनी चाहिए क्योंकि दानों ने अपनी पूर्व पीढ़ी से समान रूपेण दाय ग्रहण किया है। इस प्रकार धर्म और सम्प्रदाय का कोई विवाद नही। क्योंकि धर्म का अर्थ अपने आप में अति व्यापक है। उसको समझने की आवश्यकता है। वह एक व्यक्तिगत वस्तु है अतएव वह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विवाद का कारण नहीं हो सकता अपितु धर्म तो हमें दया, स्नेह, सौहार्द, सहानुभूति, सहयोग जैसी उदात्त मानवीय आदर्शों का पालन करना सिखाता है। जैसा कि शास्त्रकार मनु ने धर्म का लक्षण किया है—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शोचं इन्द्रियं निग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥ (मनुस्मृति)

उपरोक्त दशों लक्षण कहीं भी असामाजिक भावनाओं को जन्म देने वाले नहीं है। अपितु समाज के स्वरूप और संगठन को सुदृढ़ करने में सहायक हैं। अतएव आज की इस तथाकथित सामाजिक बुराई को लेकर हम को धर्म का विरोध नहीं करना है; क्योंकि धर्म हमको जहां भगवान से प्रेम और भक्ति करना सिखाता है; वहां वह हमें मानव-सेवा का भी पाठ पढ़ाता है। छापा तिलक माला आदि धर्म के बाह्य उपलक्षण मात्र है; इन्हीं को धर्म मान लेने से धार्मिक भावना की इतिश्री नहीं हो जाती। ये तो बाह्य आडम्बर मात्र हैं अतएव हमको धर्म को सही अर्थों में समझकर उसकी व्याख्या करनी होगी और उसका ग्रहण करना होगा।

साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम—आज तथाकथित साम्प्रदायिकता के नाम पर जो पशुता का ताण्डव नृत्य हो रहा है वह सर्वविदित ही है। एक देश के निवासी एक ही राष्ट्र के नागरिक तथाकथित सम्प्रदाय या धर्म के नाम पर मानवींय उच्चादर्शों की बलि चढ़ा बैठते हैं और सामाजिक सम्बन्ध विच्छेद कर चुके हैं। और तो और आज के धर्मनिरपेक्षता का नारा लगाने वाले नेता लोग तक इस बुराई से अपना पल्ला नहीं छुड़ा पाये हैं। हमको ज्ञात होना चाहिए भारत और पाकिस्तान के विभाजन के पीछे मिस्टर जिन्ना की साम्प्रदायिक भावनाओं का ही हाथ था। पाकिस्तान के भी जो दो खण्ड हुए वहां पर साम्प्रदायिक भावनाओं का ही विस्फोट

था। आज के धर्मनिरपेक्ष वातावरण में शिक्षित दीक्षित नवयुवक भी इस बुराई के शिकार हैं। वे इसके दुष्परिणामों को समझने में असफल रहे हैं इसका ही परिणाम है कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय जैसे उच्च शिक्षा संस्थान में आए दिन हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर दंगा फिसाद होते रहते हैं। इस कुत्सित भावना ने सदैव से मानवता का विनाश किया है १९४८ में जो पंजाब में रक्तपात हुआ वह इसी भावना का कुफल था। आज से सदियों पूर्व भारत और अरब में जो रक्तपात हुआ उसकी भी जननी साम्प्रदायिकता ही थी।

इस कुप्रथा का जो सर्वाधिक भयावह कुपरिणाम है वह है राष्ट्र की अखण्डता को खतरा। जब मेरे देश का एक मुसलमान नामधारी नागरिक इस देश की स्वच्छ वायु में श्वांस प्रश्वास लेते हुये इस देश के अन्न जल से लालित पालित होते हुए "मेरे मोला मक्का मदीने बुलाले मुझे अब तो यह तूती अरब के चनन में रहेगी" इस प्रकार से गाते हुए अरब के गीत गाता है भारत को जननी जन्मभूमि न मानकर मात्र भोगभूमि मानता है वहां पर राष्ट्रीय एकता पर संकट के कलुष मेघ मंडराने लगते हैं। और होता यह है कि देशवासियों की पारस्परिक आस्था का विखण्डन हो जाता है। पिछले दिनों जब हमारा अपने पड़ौसी शत्रु राष्ट्र पाकिस्तान से काश्मीर विवाद को लेकर युद्ध चला तो भारत के निवासी मुसलमानों की इस्लाम के नाम पर पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति पाई गयी और पाकिस्तान की करारी हार पर मातमी संगीत गाये गए क्या यह सब कुछ राष्ट्रीय एकता के मार्ग की बाधायें नहीं। मुसलमान ही क्यों जो हिन्दू मुसलमानों के ऊपर बार-बार छीटाकसी करते हुए पाए जाते हैं और उनके बारे में दूसरा पाकिस्तान बनाया जा रहा है—जैसी असामाजिक और अराष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन देते हैं क्या यह सब कुछ राष्ट्रीय है।

इसके अतिरिक्त जो एक और भयावह दुष्परिणाम इस तथाकथित साम्प्रदायिकता का हो सकता है वह है लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की असफलता। क्योंकि साम्प्रदायिक भावनाओं से अभिभूत होकर एक मुसलमान नागरिक मुस्लिम प्रत्याशी को ही अपना मत देना चाहेगा भले ही उसके साम्मुख्य में एक सुयोग्य ईमानदार हिन्दू उम्मीदवार हो। यही हाल हिन्दुओं का होगा। वे भी योग्य से योग्य मुस्लिम प्रत्याशी को भग्न और मलेच्छ समझकर अपना मत एक अयोग्य हिन्दू प्रत्याशी को देने को उद्यत हो जायेंगे। परिणाम स्वरूप लोकतान्त्रिक शासन कभी सफलता से नहीं चल सकता। इसके अतिरिक्त कानून बनाते समय भी यही तथाकथित साम्प्रदायिक भावना किसी भी राष्ट्रहितकारी सार्वजनिक कानून में बाधा बन सकती है। "**समान आचार संहिता** का तीव्र विरोध हमारी सम्भावना का ज्वलन्त प्रमाण है।

इतना ही क्यों शिक्षा के क्षेत्र में भी इस विषवृक्ष के कुफल देखने को मिल सकते हैं। सभी धर्मावलम्बी शैक्षिक पाठ्यक्रम में अपनी संख्या के प्रतिशतानुसार

अपना प्रतिनिधित्व चाहेंगे और वर्तमान शिक्षा भी भाषा और धर्मों का एक अजायब-घर बन जायेगी। यही विवाद सरकारी सेवाओं के आरक्षण के विषय में भी उठ रहा है। अब तक हमें साम्प्रदायिकता के दुष्परिणामों से भली भाँति-अवगत होना चाहिये।

उन्मूलन के उपाय—हमारी दृष्टि में इस दुर्दान्त समस्या से छुटकारा पाने का सर्वाधिक सुसंगत और सबल सुझाव यह है हमारी शिक्षा, हमारी राष्ट्रीय संएच्छाओं के अनुरूप हो। उसमें कहीं भेद विभेदों के लिये स्थान न हो। अशिक्षा, अविद्या का अज्ञान ही इस दुर्भावना का मूल जनक रहा है; क्योंकि अज्ञानवश अल्प-शिक्षित लोग सम्प्रदाय या धर्म के मूल और व्यापक अर्थ को समझने में असमर्थ रहे हैं। विश्व के महान्न पुरुषों ने, ग्रन्थों ने धर्म और परमात्मा को कभी दो नहीं बताया एक ही बताकर मानावऐक्म की बात कही है। वेद जो सर्वाधिक प्राचीन और पक्ष-पात रहित ग्रन्थ माने जाते हैं; वहां पर परमात्मा के विषय में स्पष्ट लिखा है "एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति" कि एक परम सत्ता को लोग नाना नामों से पुकारते हैं। तदापि शास्त्रों में कहीं भी एक देश में एक ही जाति या धर्मावलम्बी या भाषा-भाषियों के रहने की बात नहीं कही है ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त में स्पष्ट लिखा है "नाना धर्मानं वहुधा विवामसं जनं बिभ्रति पृथ्वी भभौकसार॥ अर्थात् भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी भाषाभाषी लोग इस राष्ट्र में एक परिवार की तरह रहें। बताइये साम्प्रदायिकता के विरोध में इससे बढ़कर और क्या तर्क हो सकते हैं।

इसका जो दूसरा उपाय है वह है संवैधानिक और वैधानिक समानता जहां पर धर्म या जाति का नाम लेश ही न आकर सभी नागरिकों के लिए समान व्यवस्था हो। तृतीय उपाय लोकतान्त्रिक भावनाओं का प्रचार और प्रसार है संक्षेप में यही इस दुर्दन्ति समस्या के उन्मूलनोपाय हो सकते हैं।

प्रारम्भ में कोई भी धारणा या मान्यता बुरी नहीं होती लेकिन कालान्तर में अज्ञान शाह कोई भी स्वस्थ मान्यता विकृति ग्रस्त होकर अस्वस्थ और असमा-जिक हो जाती है। यही स्थिति साम्प्रदायिक धारणा के पीछे है आज लोग उसके स्वस्थ और व्यापक अर्थ को भूलकर दुराराग्राही और अनुदार हो गए हैं। आज आवश्यकता है इस बात की कि हम धर्म या सम्प्रदाय के सही अर्थ और अभिप्राय को समझें और समझायें और समाज तथा राष्ट्र को इस कालाग्नि की लपटों से बचाकर देश को उन्नति की ओर ले जायें इसी में हमारा सबका कल्याण निहित है।

भारत में धर्म निरपेक्षता

धर्म निरपेक्ष शब्द अपने आप में व्याख्या सापेक्ष है। क्योंकि बहुत से बन्धु इसे ठीक से नहीं समझ पाते हैं। इसलिये वे इसका मनमाना अर्थ करते हैं और धर्म-निरपेक्षता का अर्थ मान लेते हैं—धर्महीनता। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है।

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा यही है कि राज्य स्वयं किसी विशेष धर्म का अनुयायी न हो, उसकी दृष्टि में सभी धर्मों के लिये समान आदर भाव हो। यदि राज्य का लगाव किसी धर्म विशेष के प्रति होगा तो दूसरे धर्मों के प्रति उसका विद्वेषी होना सहज सम्भव है।

संविधान निर्माताओं का यह आशय बिल्कुल नहीं था कि भारत की जनता को धर्महीन बना दिया जाये। धार्मिक भेद-भाव या विद्वेष को दूर करना उनका उद्देश्य अवश्य रहा था। धर्म-निरपेक्षता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि राज्य में से धर्म नाम की वस्तु को ही नष्ट कर दिया जाये। धर्म तो मानव मन की अंत-प्रेरणा का मूल स्रोत है। संविधान निर्माता महामिनीषी इस बात की अनदेखी कैसे कर सकते थे। बिना धर्म के तो सारी जनता अधर्मी बन जायेगी। तब नैतिक मूल्यों की क्या उपयोगिता रह जायेगी ? कौन पाप कर्मों से डरेगा ? समाज में भय नाम की चीज नहीं रहेगी। पूज्य महात्मा गांधी जी कहा करते थे कि—"लोकराज लोकलाज से ही चलता है" जब लोगों में लोकलाज जैसी चीज ही न रहेगी तो सामाजिक मान मर्यादाओं और मूल्यों का अवमूल्यन हो जायेगा। धार्मिक वृत्ति के लोग ही तो राज्य के नियम और कानूनों को मानेंगे। वास्तव में राज्य का धर्म तो वही है। सभी धर्मों के प्रति समभाव ही सच्ची धर्म निरपेक्षता है।

आज यदि हम यह चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र एक रहे, अखंड रहें तो इसके लिए हमें धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करनी ही होगी क्योंकि राष्ट्र में तो बहुत सारी जातियां हैं और उन जातियों के अपने-अपने मत और सम्प्रदाय हैं जिनमें उनकी अटूट आस्था है। एक धर्म निरपेक्ष राज्य ही उनको उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा की गारंटी दे सकता है। धर्म सापेक्ष राज्य नहीं। क्योंकि वह तो एक धर्म विशेष या मतविशेष के प्रति प्रतिबद्ध हो जाता है। तब एक दूसरे मत या सम्प्रदायों के साथ समान वर्ताव और न्याय कैसे कर सकता है ?

राज्य के किसी धर्म विशेष या मत विशेष को अपना लेने से दूसरे धर्मा-वलम्बियों में असुरक्षा की भावना आ जाना स्वाभाविक है और जहां पर असुरक्षा की भावना आ जाती है वहीं पर अलगाव और विद्वेष पनपते हैं। यही आगे चलकर देश की एकता और अखंडता के नाशक बनते हैं। पाकिस्तान के निर्माण का इतिहास हमारे सामने है। मुस्लिम लीग ने भारत के मुसलमानों में यह भय फैलाया कि स्वतन्त्रता मिलने के बाद भारत एक हिन्दू बहुसंख्यक राज्य होगा और उसमें मुस्लिम लोग दूसरे दर्जे के नागरिक बन कर रह जायेंगे। इसी आशंका ने उनको देश के विभाजन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। यदि हम लोग अपने मुस्लिम भाइयों को कभी यह विश्वास दिला पाते कि स्वतन्त्रता के बाद भी भारत एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र होगा तो शायद भारत का मुस्लिम समुदाय इतना बड़ा अलगाववादी निर्णय कदापि नहीं लेता और यह खण्डित स्वतन्त्रता हमको न मिली होती। इतिहास अपने आपको दोहराता है। आज भी बहुत कुछ वही परिस्थिति पुनः हमारे

सामने आकर खड़ी है। तब हमें इतिहास से प्रेरणा प्राप्त करने की आवश्यकता है।

यही क्यों इससे पहले का भी इतिहास हमारे सम्मुख खुला पड़ा है। जब जब भी राज्य ने किसी धर्म विशेष को राज्य के धर्म के रूप में स्वीकार किया है तो उसने दूसरे धर्मों के साथ न्याय नहीं किया है। हम भारत में ही मुगलों के शासन-काल को देख सकते हैं मुगल राज्य ने इस्लाम को राज्य का धर्म मान लिया था। हिन्दुओं को शासिक समझकर सताया गया। उन पर जुल्म ढाये गये। उनके मठ और मन्दिर गिराये गये। चौटी जनेऊ जलाये गये। उन पर ही जजिया जैसा काला कर लगाया गया; मुसलमानों पर नहीं। हिन्दुओं के साथ सरासर अन्याय किया गया। यह सब केवल राज्य द्वारा एक धर्म विशेष को अपना लेने के कारण ही तो हुआ था। और इस अन्याय और पक्षपात का परिणाम हुआ था रक्तपात और घोर अशान्ति। शिवाजी और राणा प्रताप को हिन्दुओं की ढाल बनकर मुसलमानी राज्य से टकराना पड़ा। यदि उस राज्य की यह साम्प्रदायिक नीति न रही होती तो शायद ही हिन्दू और मुसलमानों का रक्त बहता। अकबर के जमाने में जब धर्मां-निरपेक्षता को अपनाया गया था तो राज्य में पूर्ण शान्ति थी। राज-नैतिक संघर्ष चाहे उस समय में रहा हो लेकिन किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक संघर्ष की घटना उस समय की नहीं मिलती। औरंगजेब और अकबर दोनों दो रूपों में हमारे सामने है। एक ने धर्म सापेक्षता की साम्प्रदायिक नीति बरती और दूसरे ने धर्म निरपेक्षता की उदार राजनीति। आज जहां साम्प्रदायिक औरंगजेब के नाम पर हिन्दुओं में घोर घृणा है, वहीं पर धर्म-निरपेक्षता वादी अकबर के नाम पर आदर भाव है। इससे दोनों नीतियों का प्रतिफल स्वतः स्पष्ट है।

धर्म निरपेक्षता के विषय में आज जो भ्रांति फैली है—उसका कारण धर्म के मूल तत्व को न समझना है। धर्म तो वे सार्वभौम और सार्वजनिक नियम है जो समाज की धारणा करते हैं। जिनके बिना समाज का संचालन ही नहीं हो सकता। तब कोई भी व्यक्ति या समाज या राष्ट्र पूर्ण धर्म विहीन कैसे हो सकता है? आखिर राज्य के अपने कानून भी तो धर्म के अंग है। वह भी तो राज-धर्म है। तब हम राज्य या राष्ट्र को पूर्ण तथा धर्म-विरहित कैसे कह सकते है। वह हो भी तो नहीं सकता।

आज धर्म-निरपेक्षता को लेकर दो तरह की मान्यतायें और आग्रह हमारे सामने है। पहला तो यही कि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्मविहीनता लिया जाता है और दूसरा धर्म-निरपेक्षता के स्थान पर किसी एक धर्म विशेष को राजधर्म के रूप में आरोपित करने का आग्रह किया जाता है। पहली अवधारणा अपने आप में नकारा-त्मक है; जो कि धर्म-निरपेक्षता का अर्थ नास्तिकता लेती है। यह अनुचित है। राज्य के द्वारा सभी धर्मों के पक्षपात से ऊपर उठने का मतलब नास्तिकता तो नहीं है। धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने देश के नागरिकों को यह नहीं कहता कि आप नास्तिक

वन जाओ। वह तो केवल यह कहता है कि तुम अपने-अपने धर्मों को मानते हुए परस्पर प्रेमपूर्वक रहो। हमारे वेद में भी तो यही कहा है। अर्थववेद के पृथ्वी सूक्त का यह मन्त्र शतो देखिए—

"धमार्ण नाना बहुधा विकाचसं जनं विभूति।"

पृथिवी यथौकसम्" इसका अर्थ है कि इस देश के अन्दर नाना धर्मावलम्बी और विविध भाषा-भाषी लोग मिलकर एक परिवार के सदस्यों की तरह प्रेम से रहे।

तब बताइये हमारे यहाँ पर संकुचित साम्प्रदायिकता या धर्म सापेक्षता के लिए स्थान कहाँ है। धर्म तो आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी चिन्तन है। वह तो अनुभव और मान्यता की है। जो आपको उचित लगता है वह आप मानिये और जो मुझे उचित प्रतीत होता है मैं उसे मानने और करने में स्वतन्त्र हूँ। मेरी बात या मेरा मत या धर्म ठीक हो सकता है लेकिन इसका आशय यह तो कभी नहीं कि मैं ही केवल ठीक हूँ और सव गलत हैं। चलते हैं तो फिर हम अपनी मान्यताओं को दूसरों पर थोपने का आग्रह करते हैं। इस आग्रह को थोपने के लिए चाहिए—शक्ति का सहारा और वह सहारा है राज्य। उसको धर्म के लबादे में लेकर हम दूसरों की बलाद अपने अनुसार राज्य दण्ड के सहारे चलाना चाहते हैं—यही साम्प्रदायिकता है। यही धर्म सापेक्षता है।

सभी को चिन्तन की स्वतन्त्रता समान रूप से प्राप्त है। किसी भी विषय पर विद्वानों का मतभेद होना स्वाभाविक है। संस्कृत में एक कहावत भी है—मुण्डे मुण्डेमति भिन्ना, तुण्डे-तुण्डे सरस्वती:। लेकिन इसके बावजूद भी लक्ष्य तो हमारा एक ही है और वह है परम तत्व की खोज। वेद में स्पष्ट कहा कि विद्वान लोग उस परम तत्व को नाना नामों से पुकारते हैं—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' तब लड़ाई और आग्रह के लिए स्थान ही कहाँ है? जैसा तुमने अनुभव किया वह तुम मानो और जैसा मैंने अनुभव किया वह मैं मानूँ। तुम भी ठीक, मैं भी ठीक। यही तो अविभक्तं विभक्तेषु है। अनेकता में एकता है। भारतीय संविधान में जो धर्म-निरपेक्षता का प्रावधान है, उससे हमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि आपत्ति है तो उसके क्रियान्वयन से है। उसका क्रियान्वयन समान नहीं है; क्योंकि एक सम्प्रदाय की तो अनुचित मांग को भी अल्पसंख्यक के नाम पर मान लिया जाता है और दूसरे सम्प्रदाय की उचित मांग को भी इसलिए नहीं माना जाता क्योंकि वह अल्पसंख्यक है—यह कहां की धर्म-निरपेक्षता है? यह तो राजनयिक तुष्टिकरण का एक अंग बन गया है। एक सम्प्रदाय के धर्माध्यक्ष को तो हम राजनयिक सम्मान दे; जैसा कि पोप जॉन पाल के साथ किया गया और दूसरे को मानवीय समर्थन भी नहीं; जैसा कि तिब्बत के बौद्ध नेता दलाई लामा के साथ किया जा रहा है। एक सम्प्रदाय को हम संविधान और सर्वोच्च न्यायालय से भी ऊपर मानकर उसकी चाटुकारी करे,

और दूसरे सम्प्रदाय के मानव अधिकार भी उसके छीन लें। यह तो धर्म-निरपेक्षता नहीं; एक प्रकार की साम्प्रदायिकता ही है।

तो भी आज हमें धर्म-निरपेक्षता शब्द से घबराने की जरुरत नहीं है, क्योंकि यह अपने आप में राष्ट्र के लिए हितकर है। हां, इसका क्रियान्वयन गलत हो सकता है। लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं कि यदि नाक में जुकाम हो जाये तो नाक को ही उड़ा दिया जाये। आवश्यकता तो आज धर्म-निरपेक्षता की नीति के सही रूप से पालन करने की है। सभी धर्म और सम्प्रदाय अपने-अपने स्थान पर ठीक है। उनकी अपनी मान्यतायें, पूजा-उपासना पद्धति चाहे जो हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि वह तो आत्म-साधना के विभिन्न मार्ग हैं। जब हम धर्म या सम्प्रदायों को राजनैतिक स्वार्थ का साधन मान लेते हैं, तब गड़बड़ होती है। भारत में यही हो रहा है। कुछ लोग धर्म के नाम पर राजनीति का व्यापार चलाते हैं और ऊपर से धर्म निरपेक्षता का मुखौटा ओढ़ते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहने की जरुरत है। सभी धर्मों, जातियों और भाषाओं का राष्ट्र-निर्माण में योगदान रहा है। अतएव सभी को यहाँ पर फलने फूलने का अधिकार भी है। यह सब राज्य की धर्म-निरपेक्ष नीति से ही सम्भव है।

"अहिंसा परमो धर्मः"

उपर्युक्त कथन किसी मनचले राजनैतिक का फड़फड़ाता नारा नहीं, बल्कि आज नाश के कगार पर बैठी हुई कराह रही आक्त आकुल मानवता की दैन्य भरी पुकार है। चाहे आज से अढ़ाई हजार वर्षों पूर्व महात्मा बुद्ध ने इस महाघोष का उच्चार तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग की धार्मिक क्रूरता के सन्दर्भ में किया था। उस समय यह आकुल आह्वान निरीह और मूक पशुओं का समवेत स्वर बन गया था। लेकिन आज तो स्थिति और भी भयावह और त्रासद है। कहाँ तो तब पशुता की रक्षा का प्रश्न था, आज तो मानव मात्र के अस्तित्व को ही खतरा खड़ा हो गया है। जिस विज्ञान रूपी भस्मासुर को उसने अपने दास के रूप में अपनी सेवार्थ आविष्कृत किया था, आज वही उसकी अस्मिता को लील जाने के लिए उतारू हो गया है। बात कुछ इस तरह की हुई है—

"जिसे हम हार समझे थे, गला अपना सजाने को।
वही अब नाग बन बैठा, हमें ही काट खाने को॥"

आज हमको एक बार इस बात पर गम्भीरता से सोचना पड़ेगा, विचार करना पड़ेगा कि आखिर इन सबका मूल कारण है क्या? क्या यह निरीह और निर्जीव विज्ञान सारे विश्व को कहीं अपनी तरह जड़वत्-चेतनाशून्य तो नहीं बना देना चाहता है। विज्ञान का यह दैवी वरदान आज मानव के लिए क्रूर अभिशाप क्यों बनता जा रहा है। आज समय रहते हमें इन ज्वलन्त प्रश्नों पर मुई विचार करना ही होगा। आखिर मानवता को रहना है, जीना है। उसे मरना नहीं है, उसे मिटना

नहीं है किसी आंगल विद्वान ने ठीक ही तो कहा है "द मैन कैन बी डिफिटेड बट कैन नॉट बी डैस्टरॉयड" आदमी हार सकता है, परन्तु मर नहीं सकता ।

मानवता आज महायुद्धों और विश्व विनाश के भयंकारी मुकाम पर पहुँच चुकी है । महाविनाशकारी सर्वजनहारी दो-दो विश्वयुद्धों की भीषण यन्त्रनाओं को मानवता प्रसविनी माँ के समान कराह-कराह कर सह चुकी है । हिरोशिमा और नागासाकी में हुआ वह दानवता का क्रूर अट्हास आज भी उसके कर्ण-कुहरों में गुंजायमान है । तदपि वह घूम फिर कर फिर-फिर उसी दिशा में चाहे-अनचाहे बढ़ती ही चली जा रही है । क्या मानवता अब जीने से छक चुकी है ? नहीं मानवता तो चिरंजीवत और चिरविजयनी है । अंततः उसकी अदम्य जिजीविषा और जीवन्तता को चुनौती देने वाला है कौन ? हमें मानवता माँ की रक्षार्थ आज उस दुर्दमनीय महिषासुर का मानमर्दन करना ही होगा ।

मानव-मानव के मध्य में बन्धुता की भावना से ही प्रेम का प्रसार हो सकता है । विश्व-बन्धुत्व की भावना से ही आहत मानवता की रगो में नवरक्त का संचार हो सकता है । जब-जब भी मानव-मानव के बीच की दूरी बढ़ी है, वही उसके लिए अपार खोह बन गयी है; जिसको कितनी ही अनगिनत लाशों से भी नहीं पाया जा सका है, इतिहास इस बात का साक्षी है । यह दूरी राग-द्वेष और ईर्ष्या जन्य है । ये राग-द्वेष रूपी दानव चाहे व्यक्तिगत हो; चाहे सम्प्रदाय गत-इन्हीं की आसुरी विनाशलीला महायुद्ध के रूप में दृष्टिगोचर होती है । जहाँ व्यक्ति का अहंकार उसे शेष समाज से अलगाता है, वहीं पर सामूहिक अहम् के रूप में भी वह उग्र-सम्प्रदाय-वाद या उग्र-राष्ट्रवाद का रूप धारण करके समग्र मानवता को चुनौती देता है । द्वितीय विश्वयुद्ध में नाजी जर्मनी के उग्र राष्ट्रीय अहम् की प्रचण्ड आग में ही तो सारा विश्व झुलस उठा था । कुटिल कुटनीतिज्ञ इस अग्नि में अपने स्वार्थों की सामग्री डालकर इस ज्वाला को और भी उद्दीप्त बना देते हैं । महाकवि "दिनकर" ने "कुरूक्षेत्र" में यही तो संकेत दिया है—

वह कौन रोता है वहां, इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा नौजवानों के लहु का मोल है ।

निश्चय ही प्रत्यय कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का, जिसका हृदय उतना ही कुटिल जितना की शीर्ष वलक्ष है ।

"जो स्वयं तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर—
आश्वत होकर सोचता
शोणित बहा, पर
बच गयी लाज सारे देश की ।"

यदि हम मानव मात्र को बन्धुवत् देखे और सकल विश्व को एक परिवार के रूप में समझें तो हममें कदापि यह राग और द्वेष की अग्नि दीप्त न हो । इसीलिए

तो हमारे महामनीषियों ने बाहर के शत्रुओं से भी पहले हृदयस्थ दानवों के दमन और संहार की बात कही थी। वेद का एक मन्त्र है—

मा प्रगाम पथो वयं, मा यज्ञात् सोमिनः।
भार्न्तस्युः नो अरातयः।" (सामवेद)

इसका अर्थ है कि हे प्रभो। कल्याणमय मार्ग पर चलने वाले लोग कभी भी कुपथगामी न हो और जो हमारे अन्तःकरण में राग-द्वेषादि हमारे अन्तर्निहित शत्रु है जो हमें सुपथ से कुपथ की ओर ले जाते हैं, आप हमें उनसे मुक्त कीजिए "विश्वानि देव सविर्त दुरितानि परासुव" का मन्त्र भी इसी बात को तारस्वर से पुकार-पुकार कर कह रहा है कि हम राग, मोहादि सकल दुर्गुणों से बचें और समस्त शुभ गुणों से विभूषित हो, महिमा मण्डित हो।

हमारे अन्तरतम में बैठी हुई आसुरी और दैवी वृतियों में सतत संघर्ष चलता रहता है। इसी को हमारे पुराणों में देवासुर-संग्राम कहा गया है। यह देवासुर संग्राम प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन में अहर्निश चलता रहता है। इसी का सामूहिक प्रत्यक्ष स्वरूप मानवता को महायुद्धों के महाविनाशकारी कगार पर लाकर खड़ा कर देता है। जब तक हम लोग व्यक्तिगत जीवन को स्वच्छ और पवित्र नहीं बनायेंगे; तब तक समाज भी स्वस्थ स्वरूप धारण नहीं कर सकता। आखिर समाज व्यक्तिगत इकाईयों का ही तो समूह है। आज हम सामूहिकता या समाजवाद की झौंक में कहीं पर व्यक्तिगत जीवन की निर्मलता और निर्माण के रहस्य को भूलते तो नहीं जा रहे हैं? हमारे साधु-सन्तों ने इसीलिए व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता और पवित्रता पर विशेष जोर दिया था। योग अन्तर्गत यम-नियमों की प्रक्रिया व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की पवित्रता के ही सोपान हैं। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौचादि सभी व्यक्तिगत और सामाजिक शुद्धता के मापदण्ड हैं। जब तक हमारा व्यक्तिगत जीवन शुद्ध पवित्र और राग-द्वेष से रहित नहीं होगा, हमारा सामाजिक जीवन भी निष्कलंक नहीं रहेगा। व्यक्तिगत राग-द्वेष प्रायः सामूहिक या साम्प्रदायिक राग-द्वेष बनकर मानवता को अहिंसा की आग में झौंक देते हैं। अस्तु!

आज विश्व में दो प्रकार की चिन्तन-धारायें विद्यमान हैं। एक है पश्चिमी देशों की व्यक्तिवादी विचारधारा और दूसरी है रूस की समाजवादी चिन्तना। इन दोनों के मूल मन्तव्यों में आकाश और पाताल जितना अन्तराल है। पाश्चात्य व्यक्तिवादी विचारधारा व्यक्ति को व्यक्तिवादी बनाती है। वह व्यक्ति के केवल अपने सुख-सुविधा और सुरक्षा पर ध्यान देती है। चाहे उसके अनुसार व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत जीवन सुखी और सुरक्षित रहे। उसके अपने व्यक्तित्व का अपरिचित विकास और विस्तार हो वह चाहे शेष समाज की कब्र पर ही क्यों न हो। इस पहली प्रवृत्ति ने ही पूँजीवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है।

दूसरी प्रवृत्ति रूस से आयोजित सामाजिकता की है; जिसमें समस्त समाज के कल्याण की बात तो कही है; परन्तु वहाँ पर व्यक्ति को बोना बनाकर छोड़ दिया गया है। यह प्रवृत्ति भी निरे समूहवाद को विकसित कर रही है। व्यक्तिगत जीवन

की पवित्रता, सुरक्षा व स्वतन्त्रता की पूरी-पूरी गारन्टी इस व्यवस्था में भी नहीं है। उपरोक्त दोनों चिन्तन पद्धतियाँ अतिवादी हैं। एक में यदि केवल व्यक्ति है तो दूसरी में मात्र समाज है। एक में समाज उपेक्षित है तो दूसरी में व्यक्ति बौना है। आज इन्हीं चिन्तनाओं से विश्व भर का मानव-मानस संचालित हो रहा है।

इनमें से पहली प्रवृत्ति जहाँ पर हमें सामूहिक या सामाजिक हिंसा की ओर प्रेरित करती है, वहीं पर दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व की विध्वंसक है। जहाँ पर कल्याण की भावना न हो, दूसरे की उपेक्षा हो वह भी एक प्रकार की हिंसा ही है। अस्तु !

इन दोनों अतिवादी विचार धाराओं के मध्यवर्ती एक भारतीय जीवन-दृष्टि भी है। जहाँ पर व्यक्ति को न तो समाज से काटकर निरे एकांत व्यक्ति के रूप में देखा जाता है और न ही नितान्त सामूहिकता पर व्यक्ति को बलि चढ़ा दिया जाता है। यहाँ पर तो सारे विश्व को एक परिवार के रूप में देखने की परम्परा है "वसुधैव कुटुम्बकम" का जय घोष है जिसमें न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई अमीर है न कोई गरीब और न कोई बली है और न कोई निर्बल। सभी एक परिवार के सम्भ्रांत सदस्य है। एक ही परम-पिता परमेश के पुत्र-पुत्रियाँ हैं। फिर एक माता-पिता की सन्तानों में झगड़ा-फसाद कैसा ? हिंसा और उग्रवाद के लिये यहाँ पर तो कोई स्थान ही नहीं होना चाहिये। न व्यक्ति और समाज का भेद, यहाँ पर तो व्यक्ति और समष्टि की निभेद गंगा-यमुना का पवित्र संगम है। तब भारत में भी हिंसा और उग्रवाद क्यों और कैसे ? लगता है हम कहीं अपने रास्ते से भटक गये हैं। वरना जिस भूमि पर मानव-मात्र की मूलभूत एकता की बात उठाई गई हो, वहीं पर मानवता के विनाश का यह उग्र-व्यग्र हिंसात्मक तांडव-नर्तन होता ? जहाँ पर साधना की उच्च भूमि में पहुँचा हुआ ऋषि जब यह उच्चारित करता हो कि "मैं अब उस विश्व दृष्टि को पा गया हूँ, जहाँ पर सारा विश्व एक घोंसले के समान दिखाई दे रहा है—"यत्र सर्वविश्वं भवत्येक नीडम्" जहाँ पर गुरु नानक देव जैसे लोगों ने "एक ही पहचानिए अस मानुष की जात" जैसा पवित्र और प्रेरणापूर्ण महाघोष किया हो, वहाँ पर हिंसा और राग-द्वेष या साम्प्रदायिकता क्यों और कैसे ? हो न हो हम कहीं भूल से भटक कर विदेशी और विधर्मियों की कुचक्र में फंस गये हैं।

जिस जाति ने सारे विश्व को धर्म की सर्वाधिक व्यवहारिक परिभाषा "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" दी हो; वह दूसरों को दुःखी और आतंकित कैसे करना चाहेगी ? जो जाति स्वयं जीना चाहती है; वह दूसरों का ज़ीने का अधिकार क्यों छीनना चाहेगी। "जीओ और जीने दो" का सिद्धान्त हमारा प्रबल जीवन-सबल रहा है। हम भारतवासियों ने सदैव शांतिपूर्ण सद्भावयुक्त सहअस्तित्व में अपना विश्वास व्यक्त किया है। तब आज यह हिंसा और साम्प्रदायिकता के विषैले कीटाणु आखिर पनपे कैसे ? इस पर हमें फिर-फिर विचारना होगा।

कुछ लोग अहिंसा का अनुचित अर्थ भी लेते हैं। अहिंसा का अर्थ दुर्बलता तथा कायरता कदापि नहीं है। महात्मा बुद्ध के बाद महात्मा गाँधी ने भारत में अहिंसा परमो धर्मः का झण्डा उठाया था। १९४५ में जब पूर्वी बंगाल में नोआखली में हिन्दुओं के साथ भीषण अत्यचार बलात्कार, हिंसा और लूट-पाट की गई तो कुछ सिर-फिरे लोगों ने गाँधी जी पर यह आरोप लगाया था कि उन्होंने हिन्दुओं को अहिंसा का उपदेश दे-देकर नपुंसक बना दिया है। तब गाँधी जी ने जिन शब्दों में इस तीखे आरोप का प्रतिवाद किया था उनके वे शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उन्होंने कहा था—"आई विल चूज वाईलैंस, इफ देयर इज ए-वॉयस टू बी मेड बिटविन वाईलैंस एण्ड कावर्डनेस अर्थात् मैं कायरता और हिंसा में से हिंसा को चुनूंगा। क्योंकि कहीं तक कायरता भी हिंसा को बढ़ावा देती है। अस्तु।

आज हमें गौतम से गाँधी तक की परम्परा की अपनी अहिंसात्मक नीति को बनाये रखना है। सभी को जीने और फलने-फूलने का समान अधिकार देना है। पहले बंगला देश और अब श्रीलंका में हमारे शान्ति स्थापना के प्रयास सराहनीय है। वे विश्वशान्ति की मंजिल के सुनहरे पत्थर है। अपने देश में भी हमको व्यक्ति-व्यक्ति और वर्ग-वर्ग में भाई चारे की भावना भरनी होगी। राष्ट्रीय एकता और अखंडता का महत्व बताकर लोगों को सही रास्ते पर लाना होगा। साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना करनी होगी। तभी यहाँ शान्ति की निर्मल ज्योति जल सकेगी और उग्रवाद, आतंकवाद औरं साम्प्रदायिकता का सर्वनाश हो सकेगा यह सब श्मशान की शान्ति नहीं; जन क्रान्ति की शान्ति होगी, जो सभी के सामूहिक प्रयास से ही सम्भव है। साथ ही राजनैतिकों के कोरे आश्वासनों से भी काम नहीं चलाना होगा और अहिंसा और शान्ति की इस परिभाषा को समझाना होगा "शान्ति सोहे उस भुजंग की जिसके पास गरल हो; उसको क्या जो दंतहीन विष रहित विनीत सरल हो।

अध्याय—२

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

आजकल बड़े-बड़े सांस्कृतिक समारोह सोल्लास मनाये जाते हैं। इन समारोहों में संस्कृति के नाम पर नंगा नाच होता है। संगीत के नाम पर भड़कीले गीत गाये जाते हैं। संस्कृति का लक्ष्य जहाँ पर सुधार का कार्य करना है, वहाँ पर ये तथाकथित सांस्कृतिक-कार्यक्रम बिगाड़ने का काम कर रहे हैं। तब इनको कैसे सांस्कृतिक-कार्यक्रम कह दिया जाता है ? इसका सीधा सच्चा महत्व यह हुआ कि लोग संस्कृति के विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। उन्हें न तो इस विषय में कुछ बताया समझाया जाता है, और न ही ऐसा कुछ कराया जाता है; जिससे कि उनको इसके महत्व की जानकारी और लाभ मिले। बड़े-बड़े सरस्वती-सदनों और शिक्षा-संस्थानों तथा राजकीय स्तर पर तथाकथित सांस्कृतिक कार्यक्रम रचाये जाते हैं। रंगा-रंग कार्यक्रम और 'यूथ-फैस्टीवल' के नाम से इनका आयोजन किया जाता है। जिनमें लड़कियाँ और लड़के भड़कीले वस्त्र पहनकर अधनगें होकर उत्तेजक गीत गाते हैं, और भौंड़ी अदायें बनाकर नाचते हैं। इससे दर्शक युवा समाज के मानस में सिवाय बुराइयों और विकारों के और कुछ भी प्राप्त नहीं होता। ऐसे समारोहों का एक मात्र उद्देश्य भारी भीड़ जुटाकर उनसे पैसा बटोरना होता है। लोक-कल्याण-कारी-राज्य (Welfere State) का दम्भ भरने वाली हमारी जनतन्त्रीय सरकार का भी इनमें महत्वपूर्ण योगदान होता है। जब राज्य की ओर से ऐसी दूषित प्रवृतियों को पनपने का अवसर दिया जायेगा। तब हम कैसे यह आशा कर सकते हैं कि हमारी युवा पीढ़ी सुधरेगी और उसमें से अच्छे नागरिक निकलकर राष्ट्र के भावी कर्णधार बनेंगे। अस्तु।

संस्कृति की इसी दुर्गति को देखकर प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली है। संस्कृति जैसे उदात्त उद्देश्य को महज मनोरंजन का साधन मात्र बनाना बहुत ही दुर्भाग्य का विषय है। अतएव इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार करने की नितान्त आवश्यकता है।

संस्कृति का अर्थ और धारणा

संस्कृति के विषय में आजकल दो प्रकार की धारणायें लोगों में पाई जाती हैं। रूढ़िवादी लोग तो उसे धर्म का ही पर्याय समझते हैं और तथाकथित अति प्रगतिशील लोग उसे मात्र मनोरञ्जक कार्य-कलाप मानते हैं। जबकि वह इन दोनों

से व्यापक और गम्भीर तथा उदात्त है। अतएव उसके सही स्वरूप को जानने की जरूरत है।

संस्कृति शब्द सम्+कृति से मिलकर बना है : इसका अर्थ है "अच्छी प्रकार से की हुई" अर्थात् जो चीज प्राकृतिक रूप से जैसी है उसको उससे सुन्दर और सोद्देश्य बनाना। यही संस्कृति का प्रमुख कार्य है। इसीलिये हमारी भारतीय संस्कृति में संस्कारों का विशेष महत्व रहा है। क्योंकि संस्कारों के माध्यम से ही मानव-मानस का सुधार और परिष्कार सम्भव है। संस्कार एक तरह से भट्टी की तरह से होते हैं। जिस प्रकार से पृथ्वी से प्राप्त खनिज पदार्थ व धातुओं को भट्टी में शुद्ध किया जाता हैं; उसी प्रकार से मानव के मन का भी संस्कारों के द्वारा संस्करण किया जाता है। भूमि से निर्गत धातुयें और द्रव्य मूल रूप में मिट्टी कार्बन आदि से आच्छादित होते हैं; वे शुद्ध रूप में नहीं होते शोधशाला (Refynery) की भट्टी में ही उनको उनका शुद्धतम स्वरूप मिलता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार भी संस्कृति का यह अर्थ सार्थक सिद्ध होता है। डार्विन के विकासवाद (Theory of evolntion) के जो तीन सिद्धान्त गिनायें हैं—वे भी हमारे संस्कारों की धारणा के अनुकूल ही है। उनमें से पहला है श्रेष्ठ आनुवशिकी (Heredity) अर्थात् श्रेष्ठ कुल या वंश में उत्पत्ति। दूसरा है वातावरण से सामान्जस्य (Adzestment of the entirnament) अर्थात् स्वयं को वातावरण के अनुकूल ढालना और वातावरण को अपने अनुकूल बनाना। पूर्व जन्म के संस्कारों से उत्तम कुल में जन्म होता है। संस्कारों से ही वातावरण के अनुकूल बनाया जाता है और संस्कारित व्यक्तित्व ही श्रेष्ठतम होता है।

संस्कृति की परिभाषा

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने संस्कृति की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। आचार्य नरेन्द्र देव संस्कृति को "चित्त-भूमि की खेती" कहा करते थे। वास्तव में बात सत्य भी है। क्योंकि संस्कारों से सिञ्चित उर्वर मन-मस्तिष्क में ही उत्तम और उदात्त भावनाओं का उद्गम हो सकता है।

प्रख्यात आधुनिक अर्थशास्त्री कार्ल मार्क्स ने भी संस्कृति को एक प्रकार का 'वैचारिक-उत्पादन' माना है। संस्कृति का क्षेत्र मन, बुद्धि और हृदय से सम्बन्धित है। अतएव उसे वैचारिक-उत्पादन भी माना जा सकता है।

डॉ० विद्यार्थी ने संस्कृति के अन्तर्गत समस्त मानसिक क्रिया-कलापों को समेटने का प्रयास किया है। मूलतः संस्कृति मानव की मानसिक उपलब्धियों का पुञ्ज है। धर्म-दर्शन, कला-साहित्य, संगीत आदि सभी इसके अन्तर्गत आते हैं।" हमारी वे सामाजिक मान्यतायें जिनको हमने सुदीर्घ अनुभव से सीखकर और सुधार कर अपने सामूहिक जीवन में धारण कर लिया है—संस्कृति हैं।"

सभ्यता और संस्कृति में अन्तर

संस्कृति से मिलता जुलता शब्द सभ्यता भी बहु प्रचलित है। कई लोग तो

सभ्यता और संस्कृति शब्दों को परस्पर पर्यायवाची ही समझ बैठते हैं। इसका कारण इन दोनों शब्दों के सही अर्थ और मूल मन्तव्य को न समझना ही है। सभ्यता शब्द भौतिक-वैभव का वाचक है। इसके अन्तर्गत हमारा रहन-सहन का जीवन-स्तर, हमारी शैली-शिल्प, स्थापत्य, कला, यान्त्रिक प्रोद्योगिकी समृद्धि का विकास आते हैं। सभ्यता हमारी संसारिक समृद्धि का प्रतीक है। जबकि संस्कृति मानसिक महानता की द्योतक है। सभ्यता जहाँ पर स्थूल है; देखी जा सकती है, वहाँ पर संस्कृति अदृश्य और सूक्ष्म है। सभ्यता भौतिक है; तो संस्कृति अध्यात्मिक हैं। एक आन्तरिक तत्व है तो दूसरा बाह्य। यह ध्यान रहे कि संस्कृति सभ्यता की अपेक्षाकृत देर से परिवर्तित होती है, क्योंकि वह अभौतिक है।

संस्कृति की आवश्यकता और महत्ता

संस्कृति सम्बन्धी बातें बहुत की जाती हैं। तब उसकी ऐसी क्या आवश्यकता और महत्ता है—यह जानना नितान्त अनिवार्य हो जाता है। मार्क्स जैसा विचारक जिसको निरा भौतिकवादी और नास्तिक तक माना जाता है—संस्कृति के विषय में बड़ा सचेत था। इसीलिये उसने अपने द्वारा प्रतिपादित "सामाजिक-संरचना" (Social Structur) को दो भागों में विभक्त करके विकेंद्रित व्याख्यायित किया। सर्वप्रथम उसने आधारिक या मूल-संरचना (Bsic Satructur) की बात कहीं। जिसके अन्तर्गत उसने मानव की मूलभूत आवश्यकतायें— रोटी-कपड़ा और मकान की चर्चा की। और इसका आधार उत्पादन के साधनों को ठहराया। दूसरी प्रकार की सामाजिक संरचना को उसने बाह्य-संरचना (Super-struacter) का नाम दिया। यह विचारणीय है।

यह अटल सत्य है कि जीव मात्र की सर्वप्रथम और सर्वोपरि आवश्यकता भोजन, वस्त्र और आवास हैं। ये इसी तरह जरूरी हैं जैसे कि वायु और जल। इनके बिना सांसारिक जीवन की कल्पना भी असम्भव है। एक अंग्रेज विद्वान ने कहा भी है—Bread and butter is the first and formast thing for human being.। अर्थात् रोजी और रोटी आदमी की प्राथमिक आवश्यकता है। लेकिन इसके साथ यह समझना भी जरूरी है कि रोटी, कपड़ा और मकान मानव मात्र की जहाँ पहली मौलिक आवश्यकतायें हैं, वहाँ पर अन्तिम नहीं। नहीं तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जहाँ उसके शारीरिक विकास के लिये भौतिक उपादानों की नितान्त आवश्यकता है वहीं पर उसके मानसिक विकास के लिये साहित्य संगीत कला और धर्म की भी बेहद जरूरत है। तभी मार्क्स ने इनको **'बाह्य-संरचना'** के अन्तर्गत रखा है। ये मौलिक आवश्यकतायें न होते हुए भी परमावश्यक हैं। नेहरू जी ने भी हिन्दुस्तान की कहानी (Discovery of India) नामक अपनी पुस्तक में इस तथ्य को स्वीकार किया है। इसके बिना मानव का सर्वांगीण समुन्नत विकास कठिन ही नहीं असम्भव है।

संस्कृति के निर्धारक तत्व

संस्कृति को निर्धारित करने वाले तत्व कौन से हैं, यह जानना अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा हम उसके स्वरूप को सही ढंग से समझ नहीं सकेंगें। प्रत्येक वस्तु का कोई आधार होता है और उसके आधार को जानकर ही उसे जाना जाता है। संस्कृति के निर्धारक तत्वों में सर्वप्रथम धर्मः—धर्म का स्थान आता है। क्योंकि हमारी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप ही सामाजिक मान्यताओं का विकास होता है। वही प्रचलित होकर रीति-रिवाज और रूढ़ि तथा परम्परा बनते हैं। धर्म के आन्तरिक तत्वों में दया, क्षमा, सहनशीलता, इन्द्रिय संयम त्याग-भावना और विवेक आदि आते हैं। इन्हीं की अभिव्यक्ति वाह्य धार्मिक अनुष्ठानों में होती है। जप, तप, पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत, उपासना और उपवास, सभी धार्मिक कृत्य माने जाते हैं। इन सभी का उद्देश्य मानव मन को संस्कृत (पवित्र) बनाकर उसमें धर्म के मूल तत्वों (दया, सेवादि) का आधन करना है।

जप-तप मन शुद्धि के साधन हैं। पूजा-पाठ हमारी आस्था-बुद्धि का परिचायक है। तीर्थ-व्रत ज्ञान प्राप्ति के साधन और संकल्प के लिये हैं। भजन-कीर्तन द्वारा परम सत्ता के (ईश्वर) प्रति कृतज्ञता का भाव प्रगट करके मन के अहंकार को कम किया जाता है। भाव यह है कि मानव मन के षड्-विकारों—काम क्रोध' राग-द्वेष लोभ और मोह को समाप्त करने के लिये ही सारे धार्मिक अनुष्ठान और पुरश्चरण सम्पन्न किये जाते हैं। जो लोग इन्हें केवल दिखावे के लिये करते हैं; उनकी आन्तरिक शुद्धि असम्भव है। पर्व-उत्सव हमारे सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक कड़ियाँ हैं। जिस प्रकार से हम अपने घरों में अपने बच्चों का जन्म दिवस और गुजरे हुए बड़े बूढ़ों की बर्सी आदि मनाते हैं—उसी तरह से सामाजिक जीवन में पर्व और त्यौहारों को मनाया जाता है। क्योंकि उनसे हमारा सांस्कृतिक घटना क्रम और गौरव-जुड़ा है। दीपावली, दशहरा होली आदि हमारे पर्व है। इन्हीं के माध्यम से संस्कृति चिरजीवी रहती है।

साहित्य और संगीत का भी अपना महत्व है। ये हमारे मानसिक विकारों को परिष्कृत करते हैं। विकार युक्त (बीमार) शरीर की सफाई के लिये जो कार्य विरेचक (जुनाब) औषधि करती है; ठीक वहीं कार्य साहित्य और संगीत हमारे मानसिक क्षेत्र में करते हैं। जिस प्रकार विरेचक औषधि शारीरिक विकारों को उभार कर शरीर से बाहर करके शरीर की शुद्धि करती है; उसी प्रकार से साहित्य संगीत और कला भी मानव मानस के विकारों को झकझोर कर उसका परिष्कार और संस्कार कर देते हैं; इसीलिये इनका संस्कृति के अन्तर्गत उल्लेख होता है। मन के विकारों को हम सर्वथा समाप्त नहीं कर सकते; हाँ उनका संस्कार अवश्य कर सकते हैं। यह कार्य साहित्य-संगीत कला के माध्यमें से ही सम्पन्न होता है। ये विकृत मनो भावनाओं को उदात्त बना देते हैं। यही इनका महत्व है। साहित्य-संगीत कलादि के सम्पर्क से रहित मनुष्य को महात्मा भ्रतहरि जी ने पशुतुल्य कहा है—

"साहित्य संगीत कला विहीनः ।
साक्षात् पसु पुच्छ विषाण हीनः ।।

साहित्य संगीत और कला ही मानव को पशुओं के स्तर से ऊपर उठाते हैं। क्योंकि खाने-पीने, सुरक्षा की भावना, सन्तानोत्पत्ति और निन्द्रादि मनुष्यों में और पशुओं में समान ही हैं। साहित्यादि उसके मनो विकारों का उन्नयन (Alination) करके उनको उदान्त बना देता है। बिना साहित्य के भी संस्कृति की रक्षा नहीं हो सकती। हमारी भारतीय संस्कृति आज पर्यन्त जो जीवमान है, उसका कारण उसका सुदीर्घ जीवी—रामायण-महाभारत, वेद, उपनिषद् आदि साहित्य ही हैं। बिना साहित्य संगीत के हमारा जीवन नीरस और अन्धकार पूर्ण लगता है। उसी प्रकार से हमारा राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन भी। किसी कवि ने तभी तो कहा है—

"अन्धकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है।
मूर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नही है।"

साहित्य संगीतादि ही हमारे सामाजिक जीवन में नव प्राण संचार करते हैं।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत मान्यतायें

१. ईश्वर-विश्वास—आस्तिकता भारतीय संस्कृति में ईश्वर के अस्तित्व में अटूट विश्वास किया जाता है। ईश्वर को शाश्वत, अनादि, अनन्त, न्यायकारी, दयालु ओर सर्वशक्तिमान मानकर उसकी उपासना का विधान है। उसको परम पवित्र मानकर हम अपने जीवन को उसके सान्निध और स्मृति से पवित्र बनाने की कामना और साधना करते हैं। उसे सर्वव्यापक मानकर पाप कर्मों से बचने की चेष्टा करते हैं। उनको अपना माता-पिता बन्धु सखा सभी कुछ समझकर सर्वस्व समर्पण करके अपने अहं की निवृत्ति करते हैं और उसको अपना संरक्षक समझकर उसकी छत्र छाया में निश्चिन्त रहना चाहते हैं। उसी के द्वारा प्रदत्त विषयों का उपभोग करने ... त वेद में कहीं गयी है। ईशोपनिषद् का पहला ही मन्त्र है—

"ईशावास्यंमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यांमजगत् ।
तेन व्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य सिद्धनम् ।।

ईश्वर के अस्तित्व में अटूट विश्वास की महत्ता को विदेशी दार्शनिकों ने भारतीय मनीषा की सर्वोत्तम उपलब्धि माना है; क्योंकि ईश्वर ही एक ऐसी सत्य और शाश्वत अजर-अमर सर्वोपरि सत्ता है, जिसके शासन में हम सब सुख और शान्ति पूर्वक परस्पर मेल से रह सकते हैं। लेकिन आवश्यकता उस परम सत्ता की आन्तरिक अनुभूति (Intntion) की है। वह बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं है उसे "अवाङ्गमनसी गोचरम्" कहा गया है। वह तो एकान्त अनुभूति का विषय है। चर्म-चक्षुओं के स्थान पर ज्ञान-चक्षुओं से ही उसका दर्शन (अनुभव) सम्भव है। उसकी प्राप्ति के लिये मन का विनिर्मल होना अकाल्य सत्य है; इसीलिये मनः शुद्धि के लिये सारे धार्मिक अनुष्ठान-व्रत-उपवास जप-तप आदि किये जाते हैं।

परमात्मा को अग्नि स्वरूप (ज्ञानरूप) मानकर हम अपने को उसमें आहूत करते हैं। जिससे कि उसकी शरण पाकर हम भी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जायें। अतएव ईश्वर के प्रति आस्था भारतीय संस्कृति की मूल मान्यता रही है। भले ही उसके स्वरूप के विषय में मतभेद रहा हो।

२. आत्मा की अमरता में विश्वास—भारतीय संस्कृति आत्मा को अमर और अजर मानती है। वह केवल शरीर को ही सार सत्य नहीं मानती; क्योंकि शरीर भौतिक है। भौतिक होने के कारण वह अनित्य और नश्वर है। आज है कल नहीं रहेगा। परन्तु आत्मा अनादि और शाश्वत (Itenal) है उसका कभी नाश नहीं होता। गीता में योगीराज श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही आत्मा की अमरता का उपदेश देकर उनके भय और आशंका को दूर किया था। उन्होंने आत्मा की अविनश्वरशीलता के विषय में कहा है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
नैनं क्लेदयन्त्यिापः नैनं शोषयति मारुतः।"

अर्थात् संसार का कोई भी शस्त्र आत्मा को काट नहीं सकता क्योंकि यह अदृश्य और अमर है। अग्नि इसको जला नहीं सकती। जल आत्मा को गला-सड़ा नहीं सकता। वायु उसको सुखा नहीं सकता। क्योंकि वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि विषयों से विरहित है। ये शरीर के विषय हैं; इसलिये शरीर नाशवान और अनित्य है। अतएव हमारे यहाँ पर मृत्यु को भी एक प्रकार का परिधान-परिवर्तन ही माना गया है। जिस प्रकार व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को उतार कर नये सुसज्जित वस्त्र पुनः धारण करता हैं; उसी प्रकार से जीवात्मा भी मृत्यु के वाद पुनः नया शरीर धारण करके संसार में पदापर्ण करता है।

इस सिद्धान्त को आधार बनाकर ही हमारे ऋषि-मुनियों और महात्माओं ने आत्मबल को प्राप्त किया है। चिरु आत्म बल के सम्मुख संसार के सब बल-पशु बल, धन बलादि तुच्छ हैं। आत्मा की अमरता के इसी सिद्धान्त को चरितार्थ करते हुए हमारे वीर योद्धा हंसते-हंसते हुए अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं। उन्हें शरीर से मोह नहीं होता अतएव यह भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख मान्यता है।

३. कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त—भारतीय धर्म और संस्कृति में जीव को कर्म करने की भरपूर स्वतन्त्रता दी गई है। वह चाहें बुरा करे या अच्छा, पाप-कर्म करे या परोपकार—सब उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। परमात्मा ने उसको विवेक-बुद्धि पाप और पुण्य तथा हित-अनहित की पहचान करने के लिये दी है। जो एक प्रकार से छलनी की तरह है। जिसमें मोटी और महीन चीजों को पृथक्-पृथक् किया जाता है। इसी प्रकार बुद्धि भी धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद दर्शाता है। जीवात्मा उसका प्रयोग करे या न करे-यह उसी पर निर्भर है।

जीवात्मा को जहाँ कर्म करने का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकार है; वहीं पर फल प्राप्ति में वह पूर्णतः परतन्त्र है। ईश्वर उसके कर्मों के अनुसार उसको अच्छा-बुरा फल देता है। उन कर्मों का फल भोगने के लिये ही जीवात्मा को बार-बार शरीर के बन्धन में बंधना पड़ता है। इसी को पुनर्जन्म कहा जाता है।

४. भाग्यवाद—तीन प्रकार के कर्म होते हैं—संचित-क्रियमाण और प्रारब्ध। संचित वे पूर्वकृत कर्म है; जिनका अभी फल नहीं मिला है। क्रियमाण वे जिनको वर्तमान में किया जा रहा है इनका आगे चलकर फल मिलेगा। और प्रारब्ध में वे कर्म हैं जिनका फल अब मिल रहा है। इसी को भाग्य भी कहा जाता है। भारतीय धर्म और संस्कृति में कर्म-फल की इस भाग्यवादी अवधारणा पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। क्योंकि यह पूर्वकृत कर्मों का अवश्यम्भावी परिणाम है। पीछे किये हुए किसी भी प्रकार के कर्म का फल अवश्यमेव भुगतना पड़ता है। गीता में श्रीकृष्ण जी महाराज ने स्पष्ट कहा है—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"। कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म होता है। बड़े ही सत्कर्मों के फल से मानव योनि-जोकि असंख्य योनियों में से एक हैं—प्राप्त होती है। अतएव यहाँ पर सत्कर्मों पर बहुत जोर दिया जाता है।

५. मोक्ष की प्राप्ति—भारतीय मनीषियों ने मानव-जीवन के चार लक्ष्य बताये हैं; जिन्हें 'पुरुषार्थ—चतुष्टय भी कहा, जाता है। ये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मानव इन पुरुषार्थों को प्राप्त करके ही पूर्णता को प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। सर्वप्रथम विद्या प्राप्ति करके सदाचार का पालन करे। दूसरे अपने सांसारिक जीवन को सुखी बनाने के लिये अर्थ का उपार्जन (कर्मादि) करे। तीसरे अपनी सभी सांसारिक सुखेच्छाओं की पूर्ति करे। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए सुसन्तान और सुख-समृद्धि को प्राप्त करे। अन्त में मोक्ष को प्राप्त करे; यही परम लक्ष्य अर्थात् परम पुरुषार्थ कहा गया है। यह विचारणीय है।

बात यह है कि शेष पूर्वोक्त पुरुषार्थ सर्वप्रथम तो अनित्य है। उनका सुख स्थायी सुख नहीं है। वह आज है कल नहीं मिले। क्योंकि सांसारिक विषय-भोगों में सुख के साथ भी दुख- द्वन्द्व का जुड़ा हुआ है; जैसाकि किसी उर्दू के कवि ने कहा भी है—

"खुदा देता है जिनको ऐश वहाँ पर गम भी होते हैं।
जहाँ बजते हैं नक्कारे वहाँ मातम भी होते हैं॥

इस संसार में सुख में भी दुख हैं। फूल के साथ भी शूल हैं। इसलिये यहाँ सच्चा और स्थायी आनन्द कहां? वह तो आनन्द स्वरूप परमात्मा के सानिध्य से ही सम्भव है। क्योंकि यह संसार अनित्य है; नश्वर है; अतः भारतीय साधु सन्तों ने इसको एक प्रकार का मिथ्या बन्धन माना। कबीर जैसे लोगों ने कहा हैं—

"झूठे सुख को सुख कहें मानत है मन मोद।
खलक चबैना काल का कुछ मुख में कुछ गोद।"

चाहे हमारा सांसारिक जीवन कितना ही सुखी क्यों न दिखाई पड़े उसमें दुख, चिन्ता, राग, द्वेष, लोभ- मोह के विकार अवश्य ही जीव को लगे रहेगें। जो उसको कर्म-बन्धन में डालकर उसे पुनः-पुनः संसार-सागर में गोते खिलाते रहेंगे। अतएव इनसे सर्वदा मुक्ति का उपाय मोक्ष को बताया। मोक्ष में जीवात्मा परमात्मा का शरणागत होकर परमानन्द का लाभ प्राप्त करता है। सभी प्रकार के दुखों की निवृत्ति का यही आत्यन्तिक अमोघ उपाय है।

५. अनासक्त कर्मयोग—भारतीय संस्कृति मानव को सदैव कर्म करते रहने का उपदेश देती है। चरैवेति चरैवेति अर्थात् चलते ही जाओ रुको मत उसका शाश्वत उद्घोष है। जीव का कार्य कर्म करना ही है, इसीलिये उसे उपनिषद् में ऋतु सम्बोधन दिया गया है। मानव सैकड़ों वर्ष जीने की इच्छा करता है, परन्तु करना कुछ चाहता नहीं। वेद कहता है कि मानव यदि तु सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखता है तो निरन्तर कर्म करता चल। क्योंकि तेरा उद्देश्य तो 'उद्यानं' ते नाकयानम् 'अर्थात् निरन्तर उन्नति के उत्कर्ष को प्राप्त करना हैं : अवनति को नहीं। यह सतत् कर्मशीलता और अनवरत अध्यवसाय से ही तो सम्भव है।

लेकिन कर्म करने में भी एक शर्त यह लगा दी कि कर्म तो करों, अवश्य करो लेकिन उसमें लिप्त मत होओ। क्योंकि लिप्त होने से जीव कर्म-बन्धन में पड़ जाता है। कर्म के फल में आसक्ती रखने से वह जीव का कर्म-पाश बन जाता है। बार-बार सकाम कर्म कराता है और फिर उन्हीं के अनुसार पुनः-पुनः आवागमन के आवर्त्त में फँसना पड़ता है। इसलिये अनासक्त कर्म करने पर भारतीय संस्कृति में अतिरिक्त बल दिया गया है। क्योंकि निष्काम-कर्म करके ही मनुष्य बन्धन (तनाव) से मुक्ति पा सकता है। जल में कमल की तरह से दुनियाँ में जीने का संदेश भारतीय संस्कृति देती है। यह लाभ और हानि, मान और अपमान, जय और पराजय इस सभी से ऊपर उठकर कर्त्तव्य भावना से कर्म करते रहने से ही सम्भव है। गीता में इसी को अनासक्त कर्म-योग कहा गया है। जो कि बुद्धि-योग के द्वारा साध्य है। बुद्धि को स्थिर (संतुलित) रखते हुए सारे सांसारिक क्रिया-कलापों का सहज कर्त्तव्य-बुद्धि से निर्वहण करना ही अनासक्त कर्म-योग है। यही हमारा व्यवहारिक जीवन-दर्शन है। भारतीय संस्कृति की यह मान्यता विश्व संस्कृति को एक अन्यतम देन है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें

१. सर्व प्राचीनता एवं सुदीर्घ जीविता—भारतीय संस्कृति विश्व भर की सबसे पुरानी संस्कृति है। क्योंकि इसका आधार श्रोत वेद है। वैदिक साहित्य विश्व में प्राचीनतम है। सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान वेद है, वही भारतीय संस्कृति रूपी गंगा की गंगोत्री है। वेद में स्पष्ट लिखा है "सा प्रथमा संस्कृति विश्व वारा" अर्थात् भारतीय संस्कृति ही सारे विश्व भर को व्याप्त करने वाली सर्व प्रथम संस्कृति है।

मनु महाराज ने भी डन्के की चोट, गर्व से कहा था—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ।

अर्थात् हे संसार के लोगों यदि तुम सभ्य और शिष्ट बनना चाहते हो तो भारतीय अग्रजन्मा विद्वानों के चरणों में अपने-अपने आचारों (योग्यताओं) के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करके सुशिक्षित होवो ।

भारतीय संस्कृति ने ही सारे विश्व को मानवता और सभ्यता का सर्वप्रथम पाठ पढाया है । कवीन्द्र रविन्द्र ने भी तो लिखा था—

"प्रथम प्रभात उदय तव गग ने"

किरणों का प्रभात भारत वसुन्धरा के प्रांगण में ही हुआ था । वैदिक साहित्य उपनिषद् आरण्यक, सूत्र, ग्रन्थ, षड्-दर्शन रामायण-महाभारत गीता जैसे महाग्रन्थों का प्रणयन सर्व प्रथम यही हुआ था ।

"India It what can teach us" नामक पुस्तक में प्रसिद्ध विदेशी विज्ञान प्रो० मैक्समूलर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है । सृष्टि के आदि की होने के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति आज पर्यन्त जीवित है । जबकि और संस्कृतियों की कब्रें खोद कर उनकी खोज की जा रही है । भारतीय संस्कृति आज पर्यन्त जीवित है । तभी तो इकबाल ने कहा था—

यूनान मिश्र रोमां सब मिट गये जहाँ से, ।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ।"

(२) **समन्वयशीलता**—भारतीय संस्कृति मानव जीवन के किसी एक पक्ष को ही लेकर नहीं चलती । उसका उद्देश्य मानव मात्र का चहुँमुखी विकास है । वह जहाँ पर मनुष्यों को भोग की बात कहती है, वहीं पर त्याग की भी । तेन व्यक्तेन मुञ्जीथा" इसका नारा है । जहाँ यह प्रवृत्ति की बात करती है, वहीं पर निवृत्ति की भी । त्याग पूर्वक भोग इसका ध्येय रहा है । एकान्त त्याग या एकान्त भोग उसको सर्वथा अभीष्ट नहीं है । उसमें धर्म और और विज्ञान दोनों एक दूसरे के साथ गलबाही लपेटे हैं । ईशोपनिषद् जोकि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के अन्तर्गत आता है—इस विषय में स्पष्ट संकेत करता है—

"विद्यायां चाविद्यायां च यस्तद्वदोभयं सहः ।
अविद्याया मृत्यु तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते ॥

अर्थात् जो विद्या (धर्म-दर्शन) और अविद्या (विज्ञान) दोनों को एक साथ कहता है वही सच्चा ज्ञानी है । क्योंकि विद्या (ब्रह्म) से मोक्ष प्राप्त हो सकता है और अविद्या (विज्ञान) से सांसारिक सुखों की प्राप्ति की जा सकती है । अतएव भारतीय संस्कृति के विषय में जो लोग निष्क्रियता का आरोप लगाते हैं, वह निराधार है । एकान्त त्याग या एकाङ्गी भोग की यहाँ पर कोई स्थान नहीं है ।

भारतीय संस्कृति ने अन्य आगत संस्कृतियों से बहुत कुछ लेकर और देकर अपनी समन्वयशीलता का परिचय दिया है। जो जातियाँ एक दिन आक्रान्ताओं के रूप में भारत में अपने एक हाथ में कठोर कुठार और दूसरे में अपना धार्मिक ग्रन्थ लेकर आयी थी; कि या तो इसे अपनाओं नहीं तो मारे जाओगे—इसने सभी को आत्म सात् कर लिया। न जाने कितनी असंख्य संस्कृति रूपी नदियाँ इस महानद में विलीन हो गयी। अपनी इसी समन्वय शीलता के बल पर ही उसने काल के क्रूर थपेड़ों को सहकर अपने को आज पर्यन्त अक्षुण्य रखा है। इसके सभी सम्प्रदायों में समन्वय की भावना विद्यमान है।

३. आदर्श मूलकता और आचार परकता—भारतीय संस्कृति शुद्ध आदर्श मूलक है। क्योंकि उसका प्रयास सदैव ही मानव को आदर्श मानव बनाने का रहा है। वेद में कहा है "मनु र्भव" अर्थात् हे मानव तू वास्तव में ही मानव बन। भाव यह कि उसको सर्वांगपूर्ण मानव बनाने का उपदेश दिया गया है। केवल मानव का शरीर पा लेना ही मनुष्यत्व नहीं है। उसमें मानवीय-मूल्यों की प्रतिष्ठा होना भी जरूरीं है। वही भारतीय संस्कृति सिखाती है। तभी तो यहाँ पर राम जैसे आदर्श राजा, दशरथ जैसे आदर्श पिता, भरत जैसे आदर्श भ्राता और लक्ष्मण जैसे आदर्श सेवक और सीता जैसी सती साध्वी आदर्श पति परायणा पत्नी को गौरव प्राप्त हुआ है। तभी तो रामायणकार ने कहा है—

देशे-देशे च कलत्राणि देशे-देशे च बान्धव:।
तं देशं न पश्यानि यत्र भ्राता सहोदर:॥

सीता का हरण हो जाने पर लक्ष्मण से राम जी द्वारा उसके आभूषणों की पहचान करने के लिये कहने पर लक्ष्मण जी का उत्तर कितना आदर्शपूर्ण है—

नैव जानामि केयूरे, नैव जानामि कुण्डलेम्।
नुपुर मेवाय जानामि, नित्य पादाभि बन्दनात्।

मैं न तो सीता-माता के कंगणों को जानता हूँ, न कानों के कुण्डलों को पहचानता हूँ; मैं तो केवल उनके पैरों के बिछुवों को ही पहचानता हूँ; क्योंकि नित्य प्रति उनकी चरण बन्दना करता था। आज के देवरों के लिये लक्ष्मण जी एक उज्ज्वल मणि के रूप में दैदीप्यमान हैं।

जहाँ त्याग और परोपकार जैसे आदर्शों पर ध्यान दिया है, वहीं पर भारतीय संस्कृति आचार परक भी है। सदाचार पर वहाँ विशेष बल दिया गया है। यहाँ तक कहाँ है "आचारो परमों धर्म: आचार हीनं न पुनन्ति वेदा:" आचारो परम धर्म है; जो आचरण के पतित है, उसे वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते। सत्याचरण और सदाचार उसके मेरू दण्ड हैं।

४. व्यापकता—भारतीय संस्कृति का प्रभाव क्षेत्र बड़ा ही व्यापक रहा है। सृष्टि के आदि में वही सारे भूमण्डल की संस्कृति थी। लेकिन कालान्तर में जैसे, ही मनुष्यों ने वेदों का पढना-पढाना और उन पर आचरण करना छोड़ दिया, तो

उनके चिन्तन में भी अन्तर आता गया। नई-नई जातियाँ और उपजातियाँ एक ही मूल मानव वंश के बनते चले गये और उनकी धार्मिक सांस्कृतिक मान्यतायें भी भिन्न-भिन्न होती गयी। वेद आदि मानव के प्रथम ज्ञान स्रोत थे। उन्हीं से वैदिक-धर्म और संस्कृति का पल्लवन हुआ। मनु जो मानव-सृष्टि के आदि शासक और धर्म-शास्ता हुये हैं; उन्होंने भी वैदिक संस्कृति को ही स्वीकार किया था। उन्हीं का वंशज समग्र मानव समुदाय अनन्त काल तक इस संस्कृति से अनुप्राणित रहा। रामायण-महाभारत काल तक आर्यों का सारे संसार में चक्रवर्त्ति साम्राज्य था; अतःएव विश्व भर में भारतीय संस्कृति की ही दुन्दुभि बजती थी। महाभारत के बाद अन्धकार का युग आया। भारत का भाग्यरूपी भुवन-भास्कर मन्द ज्योति हुआ। तदुपरान्त भी बौद्धकाल में भारतीय संस्कृति का प्रचार भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया के सारे देशों में हुआ। चीन, जापान, रूस, यूनान, कम्बोडिया, श्याम देश, मलाया, जावा, सुमात्रा, यव द्वीप, बोर्नियो, काईलैंड इथोपिया सारे के सारे देश एक समय भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे हुये थे। भारतीय राजकुमारों और धर्माचार्यों ने अपनी विजय वैजयन्ती, उपरोक्त देशों में फैलायी थी। आजकल की पुरातात्विक खोजों से ये तथ्य मिल रहे हैं। कम्पूचिया में अगोंर वाट और अगोर थोम के महा विशाल भव्य मन्दिर रेत के टीलों के नीचे दबे मिले हैं। आज भी भले ही भारतीय संस्कृति भारत वर्ष में ही क्यों न सीमित हो; लेकिन उसका प्रभाव विश्व संस्कृति पर देखा जा सकता है।

५. विश्व बन्धुत्व की भावना—भारतीय संस्कृति भारत की मिट्टी की ऊपज होकर भी विश्व व्यापिनी है। वह केवल भारत वासियों का ही भला नहीं चाहती; अपितु वह तो विश्व की कल्याण-कामना करती है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" उसका भूल-मन्त्र है अपने पराये की भावना से वह दूर है। समग्र विश्व ही उसका अपना घर है, फिर वहाँ पर अपना और पराया कैसा? प्रिय और अप्रिय कौन? जब सभी उसके अपने हैं। तब भेद-भाव की गुंजाइश कहाँ? वह तो शान्ति पूर्ण सह अस्तित्व को मानती है। भारतीय संस्कृति सारे मनुष्यों को एक ही परमात्मा की प्यारी सन्तान मान कर चलती है। तब एक पिता के पुत्रों में राग-द्वेष कैसा? गैर-विरोध उसे नहीं रूचता, वह तो सौमनस्य और संगठन की बात करती है। वेद का संगठन-सूक्त इसका जीवित जाग्रत प्रमाण है। वहाँ कहा है।

"संगच्छध्वं समवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
संभाग वो यथा पूर्वे संजनानामुपासते ॥"

विश्व के सारे लोग तुम एक होकर प्रगति की राह में कदम बढाओ, तुम्हारे सभी के मूल मन्तव्य एक जैसे हों; एक साथ बैठ कर विचार-विनिमय करो; जो भी परमात्मा के दिये हुये भोग या वरदान हैं—उनका समान वितरण करके समुचित उपभोग करो।

आज जो हमारे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में देशों में आपस आपूर्ति में अस्त्र-शास्त्रों और अर्थ-प्राप्ति की जो अन्धी होड़ लगी हुई है—उसको शान्त करने के लिये इससे अच्छा और क्या उपचार हो सकता है। भारतीय संस्कृति सभी की नित्य कल्याण-कामना करती है। "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदुख भागभवेत्—उसकी मंगल कामना है। अन्त में मैथिली शरण गुप्त के शब्दों में कहा जा सकता है—

"किसी एक सीमा में कैसे बँध कर रह सकते हैं प्राण।
अपना ही क्यों अखिल-विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण॥
आर्यजन मानस भवन में जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥"

———

अध्याय ३

समाजोन्मुख, परिवार सापेक्ष आर्य संस्कृति

जब भारत टाइम्स का ३ अप्रैल १९८६ का अग्रिम लेख पढ़ने को मिला। लेख का शीर्षक था 'परिवार-केन्द्रित, समाज विमुख है हिन्दू संस्कृति'। लेखक अखिलेश्वर झा हैं। जैसा कि लेखक के शीर्षक से ही विदित है, कि हिन्दू संस्कृति को समाज विरोधी और परिवार-पोषक कहा गया है। और इस विषय में उन्होंने प्लेटो जैसे लोगों के उदाहरण देकर अपनी बात को जोरदार ढंग से रखा है। उन्होंने हिन्दू संस्कृति पर जो आरोप लगाये हैं, सर्वप्रथम तो हमें उन पर ही दृष्टिपात करना चाहिये।

अखिलेश्वर झा जी के अनुसार सर्वप्रथम दोष हिन्दू संस्कृति की परिवार व्यवस्था में स्त्री पुरुष भेद का है। जिसके अन्तर्गत लड़की की तुलना में लड़के को अतिरिक्त महत्व दिया जाता है, क्योंकि उसी को पिता का मुक्ति दाता माना जाता है। और लड़की या स्त्री को हेय व तुच्छ माना जाता है।

दूसरा दोष उनके अनुसार यह है कि लड़के को अतिरिक्त महत्व देने के कारण ही उसके सब अपराधों को क्षम्य माना जाता है और प्रत्येक माँ-बाप उसे कृष्ण के रूप में देखता है। इसीलिये उसके लिये दहेज आदि लिया जाता है। परिवार की व्यवस्था का तीसरा दोष वे यह बतलाते हैं कि इसी व्यवस्था के कारण सारा सामाजिक भाई, भतीजावाद, पक्षपात, भ्रष्टाचार आदि फैलते हैं।

चौथा दोष यह कि परिवार के कारण व्यक्ति समाज से या सामाजिक संस्थाओं से कट जाता है। इसीलिये वह और संस्थाओं—राजनीति आदि से विमुख रह कर चेतना-शून्य रह जाता है। इतना ही नहीं झा जी इसी व्यवस्था के इसी दोष को भारत की हजार वर्षों की परतन्त्रता की भी जड़ मानते हैं।

पाँचवा आरोप उनका यह है कि हिन्दू संस्कृति का चरित्र एकात्मक या एकतावादी नहीं है इसीलिये विघटन और बिखराव है अन्तिम आरोप उनका यह है कि इस परिवार-व्यवस्था में व्यक्ति के बौद्धिक भावानात्मक नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती इसीलिए व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं। और इतना ही नहीं झा साहब ने हिन्दू संस्कृति के मुकाबले में पश्चिमी संस्कृति या अन्य संस्कृतियों को उपरोक्त आरोपों से पूर्णतः बरी कर दिया है। अब हम उनके द्वारा लगाये गये आरोपों पर अलग-अलग क्रमशः विचार करके देखेंगे कि वे कहाँ तक ठीक हैं और कहाँ पर गलत। हमारा उद्देश्य कोई

प्रतिक्रियात्मक नहीं है केवल सत्यान्वेषण मात्र है। हो सकता है वे सोलह आने सही भी हों। अस्तु।

सर्वप्रथम दोष भारतीय (हिन्दू) संस्कृति का यह बताया गया है कि यहाँ पर पुरुष के स्थान पर स्त्री या लड़के के स्थान पर लड़की को कम महत्व दिया जाता है उसी को मुक्तिदाता माना जाता है। पहली बात तो यह है कि हमारे यहाँ पर सर्वप्रथम तो परिवार का ही सर्वाधिक महत्व है जैसा कि झा साहब भी मानते हैं लेकिन परिवार में भी सन्तान का महत्व असन्दिग्ध है। और सन्तानों में लड़की की अपेक्षा लड़के से इसीलिये ज्यादा आशायें होती हैं क्योंकि वंश-बेल का वर्द्धक वही होता है। उसी को आगे परिवार की परम्परा को आगे ले जाना होता है लड़की तो दूसरे के घर पर चली जाती है और दूसरे के वंश की वृद्धि करती है। तब उससे उतनी अपेक्षायें कैसे की जा सकती हैं? जितनो कि पुत्र से जिस गृहस्थ में लड़का न हो उस गृहस्थ की स्थिति बुझते हुए दीपक की सी होती है। पुत्र ही वंश-प्रदीप का प्रकाशक है इसलिये यदि उससे हिन्दू पिता यथेष्ट अनुराग रखता है तो वह अस्वाभाविक नहीं है। हाँ इसका मतलब लड़की की उपेक्षा नहीं हो सकती। जब हमारे यहाँ लड़की को पराये घर पर रहते हुये भी, दूसरों के घर कमाते हुये भी, और औरों की वंशवृद्धि करते हुये भी उसका पिता पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार है तो उसका महत्व कम कहाँ हुआ वह तो वल्कि और बढ़ जाता है। दहेज की प्रथा का कारण भी लड़की का यह पैतृक अधिकार ही बना है। पिता उसे घर से विदा करते हुये उसकी सम्पत्ति में से उसके अधिकार के बराबर देता था। वही कालान्तर में चलकर दहेज बन गया। उसके पीछे मूल भाव वही है। लेकिन लड़के वालों वे इसको अपना अधिकार मान कर माँगना शुरु कर दिया, यह अनुचित है। यदि लड़की का हक बजाये पिता की सम्पत्ति के पति की सम्पत्ति में कर दिया जाये तो दहेज और तलाक जैसी बीमारियों का समूल नाश ही हो जाये। लेकिन क्या हमारा समाज इस बात के लिये तैयार है? या हिन्दू पिता की भावना या सामर्थ्य तो देखिये उसका (लड़की का) घर से बाहर रहते हुये भी आजीवन अधिकार रहता है और वह उसका भरपूर उपयोग भी करती हैं। इसकी तुलना में ईसाई और मुस्लिम संस्कृतियों में जरा स्त्रियों की स्थिति तो देखिये। इसाईयों में तो पिछलो सदी तक स्त्री में जीव ही नहीं समझा जाता था तब वहाँ उसके साथ क्या न्याय हो सकता था। मुस्लिम संस्कृति में औरत आदि भी पैर की जूती से फालतू कुछ नहीं है। सिर्फ उपयोग का खिलौना और बच्चे पैदा करने वाली मशीन से बढ़कर वहाँ उसका कोई महत्व नहीं है। शाहबानों के केस के प्रकरण में आप यह सब देख ही चुके हैं। और आर्य धर्म-शास्त्रों में तो उसको देवी तक कहा गया है। यह उसका सर्वोत्तम और सर्वप्रिय सम्बोधन है। तब हिन्दू संस्कृति में उसका महत्व कम कैसे आंका जा सकता है।

झा साहब का दूसरा आरोप हिन्दू माता पिता द्वारा हर लड़के को कृष्ण के रूप में देखे जाने का है जबकि उनके अनुसार लड़की को ऐसा नहीं देखा जाता। हम समझते हैं ऐसा नहीं हैं। यदि प्रत्येक माँ बाप अपने लड़कों से प्यार करता है और प्यार से उनमें कृष्ण के स्वरूप की झाँकी देखता है तो क्या गुनाह है, सन्तान से प्यार तो माता पिता को होना ही चाहिये। जो शरीर के अंग-अंग का सार भूत है उससे प्यार नहीं होगा तो किससे होगा इसीलिये तो उसको सुत, सुवन और आत्मजादि नाम मिले हैं। लेकिन लड़के को इतना प्यार देते हुये भी लड़की को हिकारत की दृष्टि से तो नहीं देखा जाता। उसे भी बिटिया या गुड़िया या रानी और देवी या कुमारी जैसे सुमधुर सम्बोधन मिले हैं। रही अपराध प्रकरण की बात कई बार लड़कों को तो पीट भी दिया जाता है लेकिन हमारे यहाँ कन्या परमेश्वरी पर तो हाथ उठाना भी पाप माना जाता है।

तीसरा आरोप झा जी हिन्दू संस्कृति की परिवार व्यवस्था में अपराधों के प्रोत्साहन को देखते हैं कि परिवार की व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति अपने लोगों का पक्ष लेता है और औरों के साथ न्याय नहीं करता। उनके अनुसार इसीलिये प्लेटों ने परिवार की निकम्मी व्यवस्था को अपने आदर्श जन-तन्त्र, गण-राज्य से बहिष्कृत करने के लिये कहा था। वे चाहते तो इसी सन्दर्भ में मार्क्सवादियों के निजी स्थायित्व की बात को भी रख सकते थे खैर जो भी हो इस सम्बन्ध में बहुत हद तक उनकी बात से सहमत हुआ जा सकता है कि परिवारीय सम्बन्धों के कारण बहुत बार अन्याय, पक्षपात और अपराध होते हैं। लेकिन इसी को हम अपराधों का मूल मान कर नहीं बैठ सकते। दूसरे यह परिवार की भावना का संकुचित अर्थ लेने पर ही होता है। हमें अपने परिवार के लोगों से प्यार है—रहे उसे कौन रोकता है लेकिन हम अपने इस प्यार को दूसरों के न्याय की बलि देकर देना या पाना चाहें तो यह नितान्त असंगत है। अपनों से प्यार का मतलब दूसरों से द्वेष कभी नहीं होता। जो लोग इस बात को नहीं समझते वही परिवार का अनुचित अर्थ लेते हैं। तो यह तो मूल व्यवस्था में दोष न होकर समझने में भूल है और भूल को सुधारा भी जा सकता है। वह सद्शिक्षा या सत्ज्ञान से ही संभव है। हमारे धर्मशास्त्रों में कहा है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् यह सारा संसार ही एक पूर्ण परिवार है यदि हम इस बात पर आचरण करें तो सारे झगड़े ही समाप्त हो जायें। लेकिन समस्या तो आचरण की है। हम कहते हुए भी ऐसा नहीं कर पाते। लेकिन यह समस्या केवल हिन्दू परिवारों की ही नहीं है। यह तो सार्वभौम है। तदपि अच्छी शिक्षा के प्रसार-प्रचार द्वारा इसको सुधारा जा सकता है यदि हमारी परिवारीय व्यवस्था में कुछ कमियाँ हैं तो वे दूर की जा सकती हैं ये नहीं कि वह व्यवस्था ही नकार दी जाये। नाक में जुकाम हो जाने पर नाक काट कर नहीं फेंक दी जाती। और फिर क्या बिना परिवार वाले समाजों में यह सब नहीं होता क्या ?

झा साहब का सबसे संगीन आरोप यह है कि हिन्दू परिवार व्यवस्था में पलकर व्यक्ति सामाजिक संस्थानों से कट जाता है और उनके विकास में कोई सक्रिय योग नहीं दे पाता। साथ ही उनके अनुसार यह परिवार व्यवस्था विघटन-कारी भी है, संगठन कारी नहीं। झा साहब की बात अंशतः सत्य मानी जा सकती है। जब व्यक्ति परिवार तक ही सीमित हो जाता है तो वह समाज से या सामाजिक गतिविधियों से विच्छिन्न सा हो जाता है। वह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि यह परिवार की भावना की सही समझ नहीं है। सही समझ तो विश्व परिवार की है। हम एक छोटे परिवार से चल कर विराट विश्व परिवार तक अपना आत्म-विकास कर सकें। उस स्थिति में समाज या सामाजिक संस्थानों से कटने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

रही बात विघटन या संगठग की। संगठन भी उपरोक्त धारणा से ही संभव है। अलग धर्म या देवी देवताओं के कारण यह ठीक है कि किन्हीं अंशों में विघटन हाता है। लेकिन ये तो चिन्तन की स्वतन्त्रता के परिणाम हैं। इनमें हमें एकात्मक मानववादी दृष्टि अपनाकर चलने की जरूरत है, जिसे गीता में 'अविक्तं विभक्तेषु' कहा है और अंग्रेजी में जिसे 'Unite in dyvarsity' कहते हैं। अनेकता में एकता ही तो भारतीय धर्म दर्शन के चिन्तन का मूल स्रोत रहा है। उसे मान कर चलने पर अपना-पराया, ऊँच-नीच भेद-भाव वाली बात ही नहीं रहती। उपनिषद् में कहा है—कः मोहः कः शोकः एकत्व मनुपश्यतः। अर्थात् एकत्व (समत्व) देखने वाले को राग-द्वेष नहीं होता। अतः परिवार की इसी भावना को मानने की जरूरत है।

अन्तिम आरोप झा साहब का यह है कि हिन्दू परिवार-व्यवस्था मानव के सर्वांगीण विकास में बाधक है। ऐसा बिल्कुल नहीं अपितु वह तो और साधक है। यदि परिवार न हो तो असहाय शिशु का कौन लालन-पालन करे कौन पढाये कौन लिखाये। सामाजिकता का सर्वप्रथम पाठ भी उसे परिवार में ही पढ़ने को मिलता है। स्वामी दयानन्द जी सत्यार्थ प्रकाश के चौथे समुल्लास में लिखते हैं कि यदि परिवार न हों तो संसार में से सारे शुभ कर्म समाप्त हो जायें। उनकी बात सर्वांश सत्य है। परिवार के बिना व्यक्ति नहीं रह सकता। परिवार ही व्यक्ति और समाज के बीच का संगम स्थल है। अतः उसे सही रूप में समझना चाहिये।

अध्याय—४

वैदिक वर्ण आश्रम व्यवस्था

वर्ण का अर्थ क्या है ?

वर्ण शब्द वृत्र वरणे धातु से बनता है। जिसका अर्थ वरण अर्थात् चुनाव करना है। चुनाव किसका ? अपने अनुसार कार्य या व्यवसाय का। वर्ण का एक अर्थ रंग भी होता है, लेकिन वह अर्थ यहाँ पर ग्रहण करना ठीक नहीं है। प्रसंग के अनुसार ही अर्थ लिया जाता है। वृत्र आच्छादने धातु से वर्ण का अर्थ आच्छादन भी लिया जा सकता है, जिसका तात्पर्य व्याप्त करना है। वर्ण-व्यवस्था सारे समाज में व्यापक होकर उसका आच्छादन अथवा धारण करती है। क्योंकि समाज के लोग उसको स्वीकार करते हैं। अतः व्यापक जन समुदाय को धारण (संचालन) करने के कारण वर्ण व्यवस्था भी जन-जन व्यापी हो सकती है। अस्तु।

वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता

वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता क्या और क्यों है—यह प्रश्न विचारणीय है। समाज जिस चीज की जरूरत महसूस करता है, उसी को खोजता है; और उसके उपयोगी सिद्ध होने पर उसे ही अपना लेता है। क्योंकि संसार में प्रत्येक वस्तु सप्रयोजन और सोद्देश्य है। जिस वस्तु से कोई प्रयोजन या उद्देश्य पूरा नहीं होता समाज में उसकी कोई आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जाती। वर्ण-व्यवस्था भी मानव समाज की एक बहुत बड़ी उपादेय वस्तु रही है। वह एक प्रकार से अपने आप में पूरी समाज-व्यवस्था (Social-System) है। जिसके माध्यम से समाज का सुचारू संचालन हो सकता है। और हुआ भी है। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था सुदीर्घ काल तक चलती रहती है। वह आज भी प्रांसगिक है। इस रूप को जानने के लिये पहले हमें उसके मूलाधार को जानने की आवश्यकता है।

वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार

प्रत्येक वस्तु के महत्व और उपोदयता का निर्धारण उसके मूल आधार से होता है। अतः वर्ण-व्यवस्था के मूलाधार को जानना भी नितान्त अनिवार्य है। कहना ये होगा कि प्रत्येक जाति या समाज का अपना एक सामाजिक चिन्तत होता है। उसी सामाजिक-चिन्तन के अनुरूप उस जाति या समाज के सामाजिक-सम्बन्ध और कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। व्यक्ति और समाज के सामंजस्य पूर्ण समझौते (Contract) और सम्बन्धों से ही समाज का संचालन और समुचित विकास सम्भव है। आज तो इस विषय पर एक पूरा का पूरा विज्ञान—समाज-विज्ञान (Sociology) के नाम से प्रचलित है। जिसको उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। इसका एकमात्र

उद्देश्य उत्तरदायित्व पूर्ण नागरिकों का निर्माण करना है। जिससे कि वे अपने अधिकार और कर्त्तव्यों को जानकर समाज और राष्ट्र के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान कर सकें। अस्तु !

वर्ण का मूल आधार—गुण कर्म स्वभाव और वृत्ति तथा क्षमता रखे गये थे। जिस व्यक्ति में जिस भी प्रकार के व्यवसाय के प्रति अभिरूचि हो और उसकी करने की क्षमता भी उसमें हो—वही वर्ण वह चुन सकता था। योगीराज श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टः गुण कर्म विभागशः" अर्थात् चारों वर्णों को गुण-कर्म के आधार पर मनुष्यों को बाँट कर बनाये गये हैं। इस विभाजन का तात्पर्य उनको आपस में बाँट कर एक दूसरे से अलग करना नहीं था। इसका प्रयोजन तो उनको एक दूसरे के सहायक बनाकर उनको परस्पर में जोड़ना था। क्योंकि सभी कार्यों को करने की योग्यता या क्षमता सब में नहीं होती। अतः सब को सब की रुचि और योग्यता के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता ही वर्ण-व्यवस्था का आधार था।

वर्ण-विभाजन

समाज को सभी तरह के लोगों की जरूरत होती है। समाज में उसको शिक्षित करने के लिये अध्यापक भी चाहियें। उसकी रक्षा करने के लिये शारीरिक बल वाले प्रशासनिक क्षमता वाले लोग भी उसे चाहियें। जो समाज में कानून और शान्ति व्यवस्था (Law and order) को बनाये रख सकें। समाज में व्यापारी वर्ग के लोगों की भी जरूरत है; जो एक स्थान से वस्तुओं को कमी वाले स्थान पर पहुँचाकर कमी की पूर्ति करें। उसे समाज के निर्माण सम्बन्धी कार्यों और कार्यालयों के लिये सेवकों (Servants) की भी आवश्यकता है; क्योंकि उनके विना भी कार्य नहीं चल सकता। कहने का भाव यह है कि समाज में सभी कार्यों को करने वाले लोग होने चाहियें, नहीं तो समाज चल नहीं सकेगा।

मानव समाज के तीन सबसे बड़े शत्रु हैं। वे हैं अज्ञान, अन्याय और अभाव। इन्हीं के कारण समस्त मानव समुदाय संतप्त है। आज हम समाज में जितने भी प्रकार के झगड़े-क्लेश या दुःख देखते हैं, वे इन्हीं की उपज हैं। आधिभौतिक, आध्यात्मि और आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों का कारण भी ये ही हैं। अज्ञान के कारण सारे मानसिक आध्यात्मिक कष्ट उत्पन्न होते हैं। अन्याय के कारण सारे भौतिक (शरीर सम्बन्धी) कष्ट पनपते हैं। क्योंकि बलवान अन्यायी होकर दूसरों को दबाता है। अभाव के कारण सारे प्राकृतिक क्लेश प्राप्त होते हैं। इन तीनों को दूर करने की योग्यता और क्षमता ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगों मे ही होती है। सभी में सभी गुण और योग्यता नहीं होती। सभी की सब कार्यों में रुचि भी नहीं होती। लेकिन समाज में तो सभी तरह के काम और व्यक्ति हैं। जिनमें शैक्षिक-बौद्धिक योग्यता हो वे ब्राह्मण, रक्षा-व्यवस्था की योग्यता वाले क्षत्रिय, वाणिज्य में निपुण वैश्य, इन सब से रहित शद्र को सेवा का कार्य सौंपा गया।

कार्य-वितरण के प्रकार

प्राचीन वैदिक वर्ण-व्यवस्था (Saring of the mony) एक प्रकार से सामाजिक कार्यों का वितरण था। वितरण का आधार व्यक्तियों की व्यक्तिगत अभिरुचियों को ध्यान में रख कर किया गया था। जिस प्रकार से हमारे शरीर में देखने का काम आँख करती है। सोचने का कार्य मस्तिष्क का है। चलने का काम पैर का है। रक्षा हाथ करते हैं। भोजन-पाचन का कार्य पेट का है। ये अंग एक के कार्य को दूसरे नहीं कर सकते। क्योंकि इनमें वह क्षमता (Capacity या Capability) नहीं है। इसी प्रकार से समाज में भी रुचि और योग्यता भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति विभिन्न कार्य करते हैं। यदि सारे व्यक्ति एक ही काम में जुट जायें तो भी बात नहीं बनेगी। क्योंकि समाज की आवश्यकतायें तो अनन्त हैं। अस्तु !

वैदिक वर्ण व्यवस्था में अज्ञान को (अशिक्षा) को दूर भगाने का व्रत लेने वाले और उसकी योग्यता रखने वाले वर्ग को ब्राह्मण संज्ञा दी गयी। ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ ब्रह्मा (परमात्मा) और वेद (ज्ञान) होते हैं। इनको जो जानता है, वही ब्राह्मण है। वह स्वयं जाने और औरों को भी जताये। वेद में एक मन्त्र आता है जिसमें समाज को पुरुष के रूप में रखकर एक रूपक बाँधा गया है निम्नलिखित है—

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीत् बाहु राजन्य: कृत:।
उरू तदस्य यद्वैश्यं पदभ्यां शूद्रोऽजायत् ॥

अर्थात्—ब्राह्मण वर्ण इस समाज रूपी पुरुष का मुख है, भुजायें उसकी क्षत्रिय हैं। वैश्य वर्ण उसके उदर के समान हैं और शूद्र ही उसके पैर हैं। इस रूपक को भली भाँती समझने की जरूरत है। जिस प्रकार से समाज में शिर चिन्तन का, भुजायें रक्षा का, पेट-भोजन पाचन और वितरण का कार्य, तथा पैर चलने का यही कार्य समाज में क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि वर्णों का है।

वर्तमान जाति-प्रथा का प्रादुर्भाव

वैदिक काल से रामायण काल तक और महाभारत काल तक भी उपरोक्त वर्ण-व्यवस्था सुचारू रूपेण प्रचलित रही। परन्तु महाभारत काल में इसमें कहीं-कहीं व्याघात (रूकावट) आनें लग गये। वह कब हुआ ? जबकि वर्ण का आधार कर्म के स्थान पर जन्म को माना जाने लगा। पूर्वोक्त परम्परा के अनुसार जहाँ पर वशिष्ठ जैसे वैश्या पुत्र को ब्राह्मणत्व प्राप्त हुआ था, धीवरी (धीमरी) सत्यवती सुत व्यास को ऋषित्व प्राप्त हुआ था; वहीं पर कर्ण और एकलव्य जैसे क्षत्रिय वृत्ति के लोगों को जन्मगत आधार पर शूद्रत्व दिया जाने लगा था। यहाँ आकर इस व्यवस्था में (Contradiction) पैदा हो गये थे। जन्मगत आधार वाली रूढ़ि से ही आगे चलकर वर्तमान जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई। जो लोग जिस भी वर्ण के कुल या परिवार में जन्म लेते, उनको बिना किसी योग्यता और क्षमता के उसी वर्ण का सहर्ष स्वीकार किया जाने लगा। यही कारण जाति-व्यवस्था का जनक बना।

महाभारत काल से पूर्व जाति नाम की कोई वस्तु भारतीय समाज में नहीं

थी। अलग-अलग कुल या गोत्र तथा वंश तो थे, परन्तु जातियाँ और उपजातियाँ नहीं थी। इन वंशों का आधार जन्मगत था। परन्तु कर्मानुसार उनको वर्ण ही प्राप्त होते थे। महाभारत से पूर्व के वाल्मिकि, वशिष्ट भारद्वाज, जाबाल और मातंग तथा जमदग्नि इस लक्ष्य के स्पष्ट उदाहरण हैं। ये लोग जन्मना अवर (छोटे) कुलोद्भूत थे; परन्तु अपनी धर्म परायणता और ज्ञान-साधना से श्रेष्ठ वर्णों को प्राप्त हुये थे। वेद के एक ही मन्त्र में एक परिवार के व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न वर्ण गिनाये गये हैं। मनुस्मृति में तो दो टूक लिखा है--ब्राह्मणो शूद्रतामेति शूद्रश्चेति ब्राह्मणताम्'' कि ब्राह्मण अपने कर्मों से व गुणों हीन होने पर शूद्रत्व और शूद्र श्रेष्ठ गुण कर्म स्वभाव को धारण करने पर ब्राह्मणत्व के अधिकारी हो सकते हैं।

जाति-व्यवस्था के दुष्परिणाम

महाभारत काल से आर्य जाति का पतन-काल प्रारम्भ होता है। जन्मगत वर्ण जाति का रूप धारण करते गये और ये जाति-बन्धन बड़े दृढ़ दिन प्रतिदिन निरन्तर होते गये। इसका सर्वप्रथम परिणाम यह हुआ कि वर्णों की कार्य कुशलता में कमी आ गयी। ब्राह्मण वर्ण-कुल में उत्पन्न व्यक्ति बिना विद्याभ्यास और सदाचार के भी ब्राह्मण मान लिया गया। वीरत्व से रहित व्यक्ति को इसी आधार पर क्षत्रियत्व मिलने लगा। वाणिज्य-बुद्धि से विरहित व्यक्ति भी बनिया कहलाने लगा। उच्च योग्यता और सदाचारी शूद्र-वर्ण कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी शूद्रत्व को वहन करने के लिये बाध्य हुआ। इस कारण जहाँ समाज में अकुशलता (Unskillfullness) बढ़ने से उसका आर्थिक-विकास अवरुद्ध हुआ; वहीं पर अवसर की समानता और स्वतन्त्रता भी जाती रही। एकलव्य उच्चतम क्षत्रिय गुणों से परिपूर्ण होते हुये भी शूद्रत्व का ही अधिकारी हो सकता था। कर्ण सूत कुल में जन्म लेने के कारण कौरवों और पाण्डवों के समकक्ष और क्षात्रत्व की परीक्षा देने में अयोग्य ठहराया गया। इससे समाज में सामञ्जस्य के स्थान पर वर्ग-विद्वेष की भावना पनपना स्वाभाविक ही था।

आगे चलकर जन्मगत जातियों के आधार पर ऊँच-नीच का भेद भाव भी वर्ता जाने लगा। उपरोक्त वैदिक वचन को अपने ढंग से व्याख्यायित करके ब्राह्मणों को ब्रह्मा जी के मुख से, क्षत्रियों को भुजाओं से, वैश्यों को उदर से और शूद्रों को पैरों से उत्पन्न सिद्ध किया गया। इसी आधार पर उनमें ऊँच-नीच का भेदभाव बढ़ा। ब्राह्मणकुल जन्मा व्यक्ति सर्वगुण रहित, दुर्गुण सहित भी ब्राह्मण और पूज्य था। भीरू क्षत्रिय कुलजात व्यक्ति भी राजन्य था। अकुशल व्यक्ति भी वैश्य था। सर्वगुण सम्पन्न तथाकथित शूद्रकुल जन्मा व्यक्ति शूद्र और अस्पृश्य, तिरष्करणीय तथा असम्मान्य था। जातियों के आधार पर वर्ग-संघ और सम्प्रदाय की भावना पनपी। इनका बढ़ा हुआ रूप धर्म परिवर्तन बनकर हिन्दू-समाज के पतन और कमी का भी कारण बना।

मध्यकाल का इतिहास

भारतीय इतिहास का मध्यकाल भयावह पतन का युग रहा है। इसीलिये विद्वानों ने इसे 'अन्धकार का युग' (Age of Dark) कहा है। क्योंकि इस समय में भारतीय समाज की गतिशीलता और चैतन्यता लुप्तप्राय हो चली थी। अन्ध-विश्वास और रूढ़ियाँ जन-मानस में घर कर गई थी। वर्ण के स्थान पर जाति की व्यवस्था भी जन्मगत आधार पर बद्धमूल हो चुकी थी। उच्च वर्गों का जात्याभिमान असीमित हो गया था। वे मध्यम वर्ग और निम्न-वर्ग के लोगों को बहुत ही तुच्छ और हेय मानते थे। जिससे समाज में विषमता और वैर-विद्वेष बढ़ा। जो हमारे राजनीतिक राष्ट्रीय जीवन में भी आड़े आया। इस तथ्य को भली-भाँति समझना आवश्यक है।

आठवीं शताब्दी में सिन्ध पर मोहम्मद बिन कासिन ने आक्रमण किया था, यह सर्व विदित है। सिन्ध का तत्कालीन राजा उस समय ब्राह्मण-वर्ग से सम्बन्धित था। वह अपने से अवर (छोटे) क्षत्रिय-वर्ग के लोगों से घोर घृणा करता था। यह राज्य भी क्षत्रियों का ब्राह्मण द्वारा धोखे से वध करके जीता गया था। क्षत्रियों का क्षत्रियत्व छीन लिया गया। जिन हाथों में कभी जहाँ कभी शत्रु की रक्तपिपासा शान्त करने के लिये चमकती तलवार होती थी, उन हाथों में जीवन-निर्वाह के लिये लकड़ी काटने वाले कुल्हाड़े थमा दिये गये। उन्हें युद्ध में लड़ने में सर्वथा अयोग्य बना दिया गया। ऐसी स्थिति में पराक्रमी शत्रु से अपर्याप्त भारतीय सेना का पादाभ्रान्त होना स्वाभाविक था। देवध्वज के गिरने वाली घटना तो एक बहाना मात्र थी, उस पराजय का मुख्य कारण यही था।

इसी प्रकार से मराठों के मिथ्या जात्याभिमान के वशीभूत हो जाने पर उनकी हार हुई। उसने महाराजा सूरजमल जैसे शक्तिशाली नीति निपुण योद्धा की उपेक्षा— उसे अपने से छोटी जाति का समझकर की। उनकी खान-पान की भेद-भावना भी अब्दाली को उन पर आक्रमण करने का सम्बल बनी। शिवाजी जैसे आर्य-जाति के वीर रक्षक को तत्काली ब्राह्मणों वैदिक विधि से इसलिये राज्याभिषेक नहीं किया क्योंकि वे तथाकथित राजपूत नहीं थे।

अंग्रेजों द्वारा पतन

मध्य काल में जिस प्रकार से विदेशी शासकों ने हमारी जन्म-जात जाँत-पाँत का लाभ उठाकर एक-एक करके उनको अपना वश वर्ती बना लिया था ठीक उसी तरह से अंग्रेजों ने भी वही किया। अंग्रेजों का कमाल तो यह था कि उन्होंने बिना अपना धन और बल अपव्यय किये हम पर हमारे ही द्वारा विजय पायी और शासन किया। इसका जीता जागता प्रमाण एक अंग्रेज इतिहासकार, (Expression of British Empire) 'अंग्रेज साम्राज्य का विस्तार' नामक पुस्तक में दिया है। उसमें एक पूरा अध्याय उसने भारत विजय को लेकर लिखा है। नाम है : (How we gangared India) हमने भारत को कैसे जीता ? जिसमें उसने यह स्पष्ट रूप से दिखाया है कि अंग्रेजों ने भारत के लोगों को जातीय आधार पर बाँट कर एक पक्ष

को अपने साथ मिला लिया और दूसरे जातीय पक्ष को पराभूत कर दिया । इसी प्रकार से फिर आगे किया । दूसरी अन्य कोई जाति अपनी सेना में भर्ती की या उसकी मदद से दूसरी जाति को विजित कर लिया । अंग्रेजों ने मात्र कितने से अंग्रेज सैनिकों से भारत को जीता—यह बात निम्नलिखित तालिका से समझ में आ सकती है—

* ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सैन्य शक्ति संख्या और भारतीय सेवारत सैनिक

सन्	कुल सेना	अंग्रेज सैनिक	भारतीय सेवारत सैनिक	प्रतिशत
१७७३	५४,०००	९,०००	४५ ०००	१६%, ८४%
१८१८	१,६०,०००	२५,०००	१,३५०००	१५%, ८५%
१८५७	२,८०,०००	४५,०००	२,३५०००	१७%, ८३%

ऊपर लिखित तालिका से हम देख सकते हैं कि कितने से अपर्याप्त अंग्रेज सैनिकों के होते हुये भी उन्होंने हमारी ही सहायता से हम पर शासन स्थापित किया। इन तथ्यों को दर्शाते हुये निष्कर्ष रूप में उपरोक्त इतिहासकार ने दो टूक कहा—We gongured India by their force and mony. बात वही हुई—"मियाँ की जूती मियाँ के सिर।" पाठकवृन्द ! अब आप सोच सकते हैं कितना भयंकर अहित हमारा इस जन्मगत जाति प्रथा ने किया है ।

धर्मान्तरण की विभीषिका

हमने विगत पृष्ठों में इस जाति-व्यवस्था के चलते अपना सामाजिक और राजनीतिक पतन देखा । इतना ही नहीं इस महारोग ने हमारे धार्मिक-कलेवर में भी उसे बेध कर बड़े-बड़े छिद्र बनाये हैं । जिससे उसका प्राण वायु क्षरित होकर उसकी जीनवी-शक्ति (Uricleheat) जाती रही है । जातिगत स्तर पर समाज में भेद-भाव और ऊँच-नीच की एक अपाट खाई खुद गई । नीच कुल जन्मा व्यक्तियों को उनके मानवोचित अधिकारों तक से वंचित रखा गया । 'स्त्री शुद्रौना धीयताम्' जैसी कपोल कल्पित कठोर शासनाएँ उन पर थोप कर उनका शिक्षा प्राप्ति का अधिकार भी छीना गया । काम करने वाले कर्मिण लोगों को कमीन समझा जाने लगा । उनसे पशुवत् वर्त्ताव किया गया । उन्हें समाज में समान रूप से उठने-बैठने, रहने-सहने और खाने-पीने तक का अधिकार नहीं दिया गया । जरा-जरा से कार्यभेद या जन्मभेद से हजारों जातियाँ-उपजातियाँ हिन्दू समाज में बन गई । इन जातियों में भी अवान्तर भेद बढ़ते गये । भेदों के साथ आपसी ऊँच-नीच, घृणा, राग-द्वेष भी बढ़े । छोटी जातियों के लोग कमीन और दलित तथा अस्पृष्य बन गये। हिन्दू (पौराणिक) धर्म में इस तरह के सामाजिक वर्गों को स्वीकृति दी गई । जबकि इस्लाम और सिक्ख

* उपरोक्त आंकड़े चौ० चरणसिंह द्वारा लिखित पुस्तक—'भारत की भयावह आर्थिक स्थिति से उद्धृत हैं ।

जैसे मतों ने इन जन्मगत भेद भावों को नकार कर मानवता की एकता का उद्घोष किया। "एक नूर ते सब जग उपज्या कौन भले कौन मन्दे" जैसी उक्तियों ने निम्न-वर्गीय या मध्यवर्गीय जनता पर जादू का-सा असर किया। इन लोगों ने सोचा कि जाति तो बदल नहीं सकते। यह धर्म ही बदल दिया जाये तो ठीक रहेगा। यही करना शुरू हुआ और देखते ही देखते हिन्दू बहुल क्षेत्र अल्पसंख्यक बन गये। पंजाब और पूर्वी बंगाल के उदाहरणों से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता हैं।

* पंजाब में धर्मान्तरण

सन्	हिन्दू प्रतिशत	सिक्ख	मुसलमान प्रतिशत	न्यूनता प्रतिशत
१८८१	४३·८%	८·२%	४०·६%	
१९३१	३०·२%	१४·३%	५२·४%	१३·६%
		बंगाल		
१८७१	५०%		५०%	
१९३१	४३·५%		५४·४%	६·५%

पंजाब में ५० वर्षों के और बंगाल में 60 वर्षों के निरन्तर धर्म-परिवर्तन के ही फलस्वरूप पश्चिमी पाकिस्तान और बंगला देश का जन्म हुआ। यह उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट सिद्ध है।

वर्तमान काल की स्थिति

पाठक वृन्द! आपने पिछले पृष्ठों में जन्मगत जातिवाद के अभिशाप को पढ़ा है। कितना अहित इस विषैली महामारी ने हमारा किया है—यह आपने देखा। लेकिन दुर्भाग्य का विषय यह है कि हम आज तक इसके अभिशाप से मुक्त नहीं हैं। आज भी हमारे हिन्दू (आर्य) समाज में इस जन्मगत जाति-व्यवस्था का बोलबाला है। छोटी जाति के लोगों को मारा पीटा और सताया जाता है। उनको जीते जी जलाया जाता है। घर फूंके जाते हैं। छपरा और बेलछी (बिहार) के हृदयविदारक काण्ड हमारे सम्मुख हैं। इसी का अनिवार्य परिणाम है आज भी निम्नवर्गीय हिन्दुओं द्वारा धर्म-परिवर्तन और हिन्दुओं की जनसंख्या में निरन्तर ह्रास।

पिछले दिनों (३ अप्रैल १९८१) को तमिलनाडू के वल्लीपुरम् जिले के मीनाक्षीपुरम् गांव के लगभग १,००० व्यक्तियों को मुस्लिम बना लिया गया।

* प्रस्तुत तालिका चौ० चरण सिंह लिखित पुस्तक भारत की भयावह आर्थिक स्थिति से उद्धृत है।

क्योंकि वहाँ के स्वर्ण हिन्दु तंग करते थे। इसी तरह की एक घटना रामनाथपुरम् में भी हुई। वहाँ के लोगों से धर्म परिवर्तन का कारण पूछने पर उच्चवर्गीय हिन्दुओं के दुर्व्यवहार को बताया गया। गाँव के जिस तालाब में सवर्णों के पशु नहा सकते हैं। सवर्णों के बच्चे उसे पी भी नहीं सकते थे। तब बताइये कौन रहेगा ऐसे धर्म में ? जहाँ पर निम्न कुल में जन्म लेने पर इतना बड़ा दण्ड दिया जाता है। ईसाई और मुसलमान पादरी और मौलवी उनके साथ समानता का वर्त्ताव करते हैं; और उनकी आर्थिक सहायता और सेवा करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप वे सहर्ष इन धर्मों (मतों) को स्वीकार कर लेते हैं। अतः आप इस जन्मगत जाति-व्यवस्था के ये साक्षात् अभिशाप देख सकते हैं।

दुर्भाग्य का विषय यह है कि इतनी बड़ी हानि और हार खाकर भी हमने अपनी इस कमजोरी से कोई सबक नहीं सीखा। हम आज भी ज्यों के त्यों हैं। आर्य समाज जैसे समाज सुधारक प्रगतिशील संगठन में भी जाति जन्मगत मानी जा रही है। सरकार इस कुप्रथा को घटाने के स्थान पर पनपा रही है। जातिगत आरक्षण इसका नमूना है। जाति के नाम पर वोट बटोरे जाते हैं। आज भी अपनी जन्मगत जातियों में शादी विवाह होते हैं। तब यह कैसे समाप्त होगी ? हमारे पौराणिक भाई आज भी तुलसीदास जी के "पूजिय विप्र शील गुण हीना। शूद्र न गुण गण ज्ञान प्रवीना।" को माने चले जा रहे हैं। सारे समाज के शरीर में यह रोग कोढ़ की तरह व्याप्त है।

आज के सन्दर्भ में वर्ण व्यवस्था की प्रासंगिकता

आजकल वर्ण-व्यवस्था की बात को लोग व्यर्थ सी समझते हैं। कुछ तथा-कथित प्रगतिशील लोग तो इसे अप्रासंगिक (Unrelevent या Out of date) तक कह देते हैं। उनके अनुसार यह एक प्रकार की रूढ़ि है—जो समाज में समानता की स्थापना और एकता में बाधक है। उनका यह भी आरोप है कि यह व्यवस्था ब्राह्मण वर्ग के लोगों ने समाज में अपनी सर्वोच्चता बनाये रखने के लिये निर्मित की थी—जिससे कि उन्हें बिना कुछ करे धरे ही ब्राह्मण परिवार में जन्म मात्र से उच्चकोटि का सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त रहे तथा और लोग एक प्रकार से उनके दास बनकर जीते रहें। वास्तव में यह वह बात है कि दूध का जला छाछ को फूंक मारकर पीता है। जन्मगत जाति-व्यवस्था के लक्षणों को ऐसे लोग कर्मगत वर्ण-व्यवस्था पर चरितार्थ कर लेते हैं। यह उनकी नासमझी और दृष्टि दोष ही कहे जायेंगे।

यह ठीक है कि कर्मगत वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप ही जाति-व्यवस्था है। लेकिन उसमें पुनः संशोधन और सुधार तो किया ही जा सकता है। यह क्या बात हुई कि नाक में जुकाम हो तो बजाय उसके उपचार के नाक का ही सफाया कर दिया जाये। वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा दोनों के आधार एकदम अलग-अलग हैं। जहाँ जाति-व्यवस्था का आधार जन्म है; वहीं पर वर्ण-व्यवस्था का कर्म। जहां पर

जाति-व्यवस्था एक रूढ़ि है; वहीं वर्ण-व्यवस्था एक प्रगतिशील परम्परा है। जाति-व्यवस्था जहाँ पर आज अप्रासंगिक और त्याज्य है वहीं पर वर्ण-व्यवस्था पूर्णतः प्रासंगिक और ग्राह्य है। क्योंकि आज विशेषज्ञता का युग है। हम हर चीज के लिए उसके विशेषज्ञ की खोज करते हैं। यदि हमें आँखों का रोग हो तो हम आँखों के रोग-विशेषज्ञ डाक्टर के ही पास जायेंगे। मोटर साईकिल ठीक करानी हो तो उसी के मिस्त्री के पास जायेंगे न कि ट्रैक्टर के मैकेनिक के पास। वर्ण-व्यवस्था भी तो यही है। जो व्यक्ति जिस भी कार्य या कला में दक्ष हो; वह उसी का पण्डित माना जाये और वही उसका वर्ण हो। आज जबकि ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल का अनवरत अनन्त विकास और विस्तार हो रहा है, तब विशेषज्ञता या दक्षता की कैसे उपेक्षा की जा सकती है ? यही वर्ण-व्यवस्था की पहली शर्त है।

वर्ण-व्यवस्था का सही स्वरूप क्या हो ?

आज हमारा समाज सम्बन्धी चिन्तन काफी आगे बढ़ चुका है। बड़े-बड़े ग्रन्थ और संस्थायें इस विषय में प्रकाश में आये हैं। व्यवहार में चाहे हम आज भी शून्य हों; परन्तु हमारा बौद्धिक विकास अवश्य हुआ है। यह निर्विवाद सत्य और तथ्य है। इसलिए भी कई लोग आजकल वर्ण-व्यवस्था की व्यावहारिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। उनके अनुसार आज व्यक्ति, व्यक्ति के सम्बन्ध, परिवार और व्यक्ति तथा व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध आज बड़े जटिल होते जा रहे हैं। उन्हें केवल समाजशास्त्र का ही विषय नहीं बनाया जा सकता। इससे भी आगे यह आज मनोविज्ञान का व्यापक विषय बन चुका है। इतना ही नहीं आज अर्थशास्त्र भी हमारे सामाजिक जीवन से निकट से जुड़ा हुआ है; क्योंकि सारे सांसारिक (भौतिक) क्रिया कलापों का आधार तो अर्थ ही है। इत्यादि-इत्यादि प्रश्न वर्ण-व्यवस्था की सार्थकता पर खड़े किये जाते हैं। जिनका व्यावहारिक हल खोजकर ही हम उसकी अर्थवत्ता सिद्ध कर सकते हैं।

वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म या वर्ग नहीं होगा। उसका आधार योग्यता होगी। योग्यता के आधार पर कार्य का चयन और उसका सम्पादन होगा। इससे मानव को अपना कौशल दिखाने का सुअवसर प्राप्त होगा। अतः समाज आर्थिक रुप से सम्पन्न होगा। योग्यता को आधार मानकर सम्पत्ति का स्वामित्व जन्मना नहीं होगा वह भी यथायोग्यता और सदुपयोगिता पर निर्भर होगा। जिस प्रकार से जन्म से ही कोई वकील या वैध नहीं होता उसी प्रकार से कोई भी सम्पत्ति का स्वामी जब तक नहीं होगा जब तक कि वह उसके सदुपयोग के योग्य नहीं होगा। दूसरी ओर समाज में उचित अर्थ वितरण होगा। जिसको जितनी जरूरत होगी उसको उतना ही मिलेगा। तब साम्यवाद के स्थान पर यथायोग्यवाद होगा। इससे एक और न तो अस्वाभाविक समानता होगी और न ही बनावटी विषमता। धन का कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण नहीं होगा। सभी मूलभूत साधन यथायोग्य सभी को सर्वदा सुलभ होंगे।

चिन्तक, विचारक, बुद्धिजीवी वर्ग आज का ब्राह्मण वर्ग हैं। रक्षा तथा प्रशासन का कार्य करने वाले क्षत्रिय हैं। व्यापार के द्वारा अभाव की पूर्ति करने वाले वैश्य हैं। और जिनमें इनमें से शिक्षा, रक्षा और अर्जन की योग्यता नहीं होगी, वे सेवक का कार्य करेंगे। इस प्रकार से वर्ण-व्यवस्था आज भी पूर्णतः प्रासंगिक हो सकती है। जो समाज का सर्वांगीण विकास कर सकती है।

आश्रम-धर्म का महत्व

धर्म का एक अर्थ कर्त्तव्य भी है। जिसे दायित्व भी कह सकते हैं। आश्रम का मोटा-सा और व्यावहारिक अर्थ पडाव हो सकता है। पडाव यात्रा को सुगम बनाने के लिए होते हैं। पडावों के माध्यम से जहाँ विश्राम मिलता है; वहीं पर आगे की तैयारी का अवसर भी। भारतीय मनीषियों ने जीवन-यात्रा के चार लक्ष्य निर्धारित किये। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। इन्हीं की प्राप्ति के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गयी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। पुरुषार्थ-चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) से इन आश्रमों का क्या सम्बन्ध है? और ये आश्रम उनकी प्राप्ति में कहाँ तक सहायक हैं, यही हमें यहां पर विचार करना है।

पुरुषार्थ-चतुष्ट्य मानव जीवन के चार सुचिन्तित उद्देश्य हैं; जिनकी उपलब्धि कर पाने में ही मानव-जीवन की सफलता निहित है। सर्वप्रथम धर्म को ही लीजिए। धर्म का अर्थ धारक-शक्ति से है। मानव जीवन को धारण करने वाले सदाचार के नियम—शिक्षा, विद्या, ज्ञान, धर्म के ही अन्तर्गत आते हैं। जन्म से लेकर पच्चीस वर्ष तक की आयु को ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए निश्चित किया। ब्रह्म के कई अर्थ होते हैं—जैसे कि ज्ञान, वीर्य और ब्रह्मा (ईश्वर) अर्थात् ज्ञानपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदों का स्वाध्याय करके ब्रह्म (ईश्वर) में विचरण करे।

पढ़ने लिखने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था ही उपयुक्त है। यह बचपन का काल होता है। अध्ययन कार्य के लिए पर्याप्त अवसर होता है। किसी प्रकार की कोई जिम्मेदारी और चिन्ता नहीं रहती। माता-पिता या समाज तथा सरकार शिक्षा के व्यय की व्यवस्था करती है। दुनिया के बाहरी आकर्षणों से विद्यार्थी को दूर रखने के लिए ही प्राचीन काल में वनों के एकान्त और शान्त वातावरण में गुरुकुल होते थे। वहीं पर विद्यार्थियों की रुचि और क्षमता के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। शारीरिक और मानसिक विकास का यही काल होता है। यही आश्रम भावी-भव्य जीवन की सुदृढ़ नींव होता है।

गृहस्थ आश्रम

पूर्ण शारीरिक और मानसिक विकास का अवसर ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त होता है। तदुपरान्त अर्थोपार्जन में समर्थ होने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का विधान है। गृहस्थ जीवन में सभी सांसारिक कामनाओं और तृष्णाओं की तृप्ति का अवसर दिया गया। अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थों को इसमें मुख्य माना गया।

धर्म विद्या की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य था ही, मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी गृहस्थी को सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसीलिए उसके लिये अपने वर्ण-धर्म का निर्वाह करते हुए भी पञ्च महायज्ञों—ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, नृयज्ञ और बलि-वैश्वदेव का विधान किया गया। ब्रह्मयज्ञ, सन्ध्या-वन्दन और स्वाध्याय को कहा है। देवयज्ञ प्राकृतिक और दैवीय शक्तियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए तथा वातावरण की शुद्धि के लिए है। पितृयज्ञ में परिवार और समाज के वृद्ध और विद्वान माता-पिता आचार्यादि की सेवा और सत्कार करना, नृयज्ञ अतिथियों की सेवा को कहा। बलिवैश्वदेव यज्ञ कीड़ी आदि प्राणियों तथा समाज के विकलांग व निर्धन या बीमार लोगों की सेवा को कहा गया।

गृहस्थ आश्रम को मनुमहाराज ने सबसे बड़ा और सबको आश्रय देने वाला आश्रम कहा। उन्होंने कहा कि जिस तरह से सभी प्राणी वायु के द्वारा जीवित रहते हैं; उसी प्रकार से सभी आश्रमी गृहस्थ के सहारे रहते हैं। और भी यहाँ तक कहा कि जिस प्रकार सभी नदी नाले अन्त में जाकर समुद्र में स्थान पाते हैं, ठीक उसी प्रकार से सभी आश्रमी भी गृहस्थाश्रम में ही शरण पाते हैं। इसी आधार पर उन्होंने गृहस्थाश्रम को मुख्य कहा—"तस्माऽज्येष्ठाश्रमो गृही"।

गृहस्थाश्रम में परिवार का महत्व है। क्योंकि परिवार के बिना गृहस्थ कैसा ? और परिवार में भी विवाह की संस्था प्रमुख है; जिसके कारण स्त्री-पुरुष का मेल होता है। स्त्री-पुरुष को मिलाकर ही परिवार की संरचना शुरु होती है। परिवार भारतीय धर्म और संस्कृति में विशेष महत्व रखना है। वैसे तो परिवार का महत्व सारे ही मानव की विकास-यात्रा में अन्यतम है।

परिवार अपने आपमें एक सामाजिक इकाई है। वही व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाली कड़ी है। समाज की प्रथम पाठशाला भी परिवार ही है; क्योंकि वहीं से मनुष्य सर्वप्रथम सामाजिकता का पाठ पढ़ता हैं। वहीं पर उसका समुचित विकास शुरु होता है। वहीं पर भावी जीवन की तैयारी के लिए उसमें संस्कारों का संक्रमण होता है। संस्कार का अर्थ किसी चीज को शुद्ध करके सुन्दर बनाना है; संस्करण का यही कार्य नामकरण मुण्डन अन्नप्राशनादि संस्कारों द्वारा हमारे गृहस्थियों के परिवारों में होता है।

अच्छे परिवारों में ही अच्छे नागरिकों का निर्माण होता है। इसीलिए हमारे यहाँ पर माता को केवल जननी (जन्मदात्री) न कहकर निर्माणी कहा।

आजकल के विकासवादी विद्वान विकास के तीन सिद्धान्त मानते हैं। श्रेष्ठ आनुवंशिकी (Heridity)–२ वातावरण से सामञ्जस्य (AdJestment with of the envirnment) तथा तीसरा श्रेष्ठतम की विजय (Survivel of the fltest) ये तीनों सिद्धान्त हमारे परिवार की परिकल्पना पर पूर्णत: चरितार्थ होते हैं। श्रेष्ठ आनुवंशिकी का मतलब श्रेष्ठ कुल परिवार वंशादि से है। वातावरण से सामञ्जस्य

का अर्थ व्यक्ति को अनुकूल सामाजिक शिक्षा और संस्कार देने से है। और अच्छे कुल में उत्पन्न होने वाले सुसंस्कृत और सामाजिक योग्यता वाले व्यक्ति की श्रेष्ठता तो स्वयं सिद्ध ही है। और जो उपरोक्त विषयों में श्रेष्ठ होगा उसकी विजय प्राप्ति या उन्नति होना स्वाभाविक है।

उपरोक्त कथनों से हमारा तात्पर्य यही है कि व्यक्ति के विकास की सभी सम्भावनायें परिवार से ही सम्भव है। बिना परिवार के तो व्यक्ति का अस्तित्व ही एक पहेली बन जायेगा। लेकिन वैदिक धर्म में परिवारों की परिकल्पना केवल सन्तानोत्पत्ति तक ही सीमित नहीं है; अपितु वहाँ पर परिवार की बहुत सारी विशेषतायें बताई गयी हैं। प्यार, स्नेह, सौहार्द, सहयोग और वात्सल्य अच्छे परिवार में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं। वेद में लिखा है कि भाई-भाई से द्वेष न करे; बहन-बहन से न लड़े; पत्नी पति को मधुरता भरी बातें कहे, उनमें आपस में सौमनस्य हो; वैमनस्य नहीं। उनमें सौमनस्य किस प्रकार का हो? इसका भी उदाहरण दिया कि—'वत्सजातमिवाहन्या' जिस प्रकार गाय अपने सद्यःजात शिशु को प्यार करती है, उसी प्रकार से हम भी एक दूसरे को प्यार करने वाले बनें। एक दूसरे का आदर सत्कार करें। यदि हम अपने परिवार में प्रेम के साथ नहीं रह सकते तो सामाजिक जीवन में भी इनसे प्यार की आशा करना दुराशा मात्र होगी। आज पश्चिम में पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त होने के कारण ही मानवीय सम्बन्धों और संवेदना में ह्रास हुआ है। यह सब विवाह की सुदृढ़ संस्था के अभाव में हुआ है।

इसीलिए हमारे ऋषि मुनियों ने सर्वप्रथम परिवारों (गृहस्थों) की विकृति पर ध्यान दिया। उसके कारण मनुमहाराज ने ये बताये—

कुविवाहै, क्रियालोपै; वेदानाम न ध्ययनेन वाः।
कुल्मन्यि कुलतां यान्ति ब्राह्मनाणामति क्रमेण च ॥ (मनुस्मृति)

अर्थात् कुविवाह (बेमेल दहेज युक्त) क्रियालोप (संस्कार रहितता) वेदों का अनध्याय (सद्शास्त्रों का स्वाध्याय) ब्राह्मणों द्वारा अतिक्रमण (विद्वानों के सत्संग का अभाव) इन कमियों के कारण परिवार (गृहस्थ) बिगड़ते हैं। यदि इन कारणों को दूर करके इनके स्थान पर गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर दहेज छोड़कर और जाति तोड़कर शादी करें; अपने घरों में नामकरणादि संस्कार और यज्ञ रचायें, नित्य प्रति सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करें। और विद्वान ब्राह्मणों का सत्संग करें तो हमारे गृहस्थ आज भी स्वर्ग बन सकते हैं। हमारे सद्गृहस्थ ही तो सच्चे स्वर्ग हैं; लेकिन आज हमने इनके महत्व को भूलकर इन्हें नरक धाम बना दिया है। इसकी स्थायी पूँजी बच्चों के निर्माण की अपेक्षा हमारा ध्यान आज कार, कोठी और प्लाट तथा बैंक बैलेंसों (Bank Balances) पर है। जिनके लिए यह पूँजी जुटाई जा रही है; उनका तो ध्यान रहे।

घर गृहस्थ और परिवार में जिसके जो भी कर्त्तव्य या उत्तरदायदित्व है; सभी उनको अच्छी तरह से निभायें—यही आश्रम धर्म का मूल-मन्त्र है। केवल भोग-विलास और मौज मस्ती लूटने के लिये गृहस्थाश्रम नहीं बनाया। यह भी धर्म की साधना का माध्यम है; जिसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। पत्नी को भी हमारे यहाँ पर धर्म-पत्नि के रूप में लिया जाता है; जिसका अर्थ है कि जो धर्म के कार्यों में सहायक हो; वही धर्म पत्नी है। जो अधर्म कार्यो को करने की प्रेरणा दे, वह धर्म पत्नी न होकर अधर्म पत्नी ही हो सकती है। आज जो स्त्रियाँ तड़क-भड़क में रहने के लिए, स्टैन्डर्ड की जिन्दगी जीने के लिए सारी सुविधायें बटोरने के लिए उत्सुक रहती है; वे अपने पतियों को अप्रत्यक्ष रूप से पापाचरण या अधर्माचरण के लिए प्रेरित कर्ती हैं। वे उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए जायज नाजायज सभी तरह के काम करते हैं। ऐसी पत्निनों को मात्र अधर्म पत्नी ही कहा ज़ा सकता है। धर्म पत्नी नहीं॥

गृहस्थियों को खूब कमाना चाहिये। यथा सामर्थ्य जरूरत मन्द लोगों की सहायता भी करनी चाहिये। संसार की सब चीजों को भगवान की दी हुई मानकर उन पर ज्यादा गर्व और आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। अति सञ्चय भी एक प्रकार का पाप ही है। दूसरे के हिस्से का धन या अन्न का भोग करना महापाप है। इसी लिए वेद में उपदेश दिया—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा—जो उसने (परमात्मा ने) दिया है उसी में सन्तोष रखें। कामनाएँ और तृष्णाएँ अनन्त है; तो भी उनका सीमित परितोष करते हुए हमें सन्तोष का सहारा लेना चाहिये। सन्तोष रखने का अर्थ निष्क्रिय हो जाना कतई नहीं है। वेद में तो स्पष्ट लिखा है—हे ! मनुष्य यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करो; लेकिन कर्म में बंधो मत। यही तो कर्म-बन्धन है। गृहस्थी को निरन्तर कर्म निरत रहते हुए भी अनासक्त भाव से जीवन-यापन करना चाहिये। यही वैदिक गृहस्थ आश्रम की अनुपम विशेषता है।

वानप्रस्थाश्रम

२५ से ५० वर्ष तक गृहस्थ भोग कर वानप्रस्थ का क्रम आता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' अर्थात् ब्रह्मचर्य के बाद व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे; गृहस्थी होकर वानप्रस्थी बने और वानप्रस्थी होकर सन्यस्त होवे। जहाँ पहले दो आश्रम तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए हैं; वहीं पर पिछले दो आश्रम—वानप्रस्थ और सन्यास—मोक्ष प्राप्ति के लिए रखे गये। गृहस्थ आश्रम व्यक्ति की तीनों प्रकार की एषणाओं लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा की परितृप्ति करता है। सांसारिक कामनाओं की पूर्ति करता है। इसमें व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग का पथिक होता है। अर्थात् उसकी विषय भोगों में रुचि होती है। सांसारिक कार्य-कलापों और सम्बन्धों में उसे आकर्षण दिखाई पड़ता है। इसीलिए वह इन्हें प्राप्त करने के लिए भगादौड़ करता है।

लेकिन जीवन के तीसरे चरण में—वृद्धावस्था में आकर वह अनुभव करता है कि मुझे जो कुछ भोगना था वह भोग लिया; जो कुछ देखना था वह देख लिया; अब मुझे कुछ इच्छा नहीं रही; सभी इच्छाएँ पूर्ण भी तो नहीं हो सकती। भतृहरि के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं--

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्त।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥

अर्थात् हमने भोगों को नहीं भोगा; भोगों ने ही हमको भोग लिया; तृष्णा (वासना) कमजोर नहीं हुई; हम ही तो कमजोर हो गये। जब भोगों से प्रवृत्ति हटकर निवृत्ति होने लगती है—ठीक यही स्थिति वानप्रस्थ की है। वानप्रस्थ का मतलब एकान्त सेवन से है। सक्रिय सामाजिक, सांसारिक जीवन से उपरत होकर चित्त की वृत्तियों को योग-साधना द्वारा शान्त और एकाग्र करके स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, ध्यानादि में मन लगाये। जो शक्तियाँ गृहस्थ में क्षीण हो गयी थी, उन्हें पुनः अर्जित करे। पुत्र को पुत्र प्राप्ति होने पर वानप्रस्थ का विधान है। पत्नी को माता तुल्य मानकर उसको भी सहधर्मी बनाया जा सकता है। इस समय को निष्काम समाज सेवा में भी लगा सकते हैं।

सन्यासाश्रम

५० वर्ष से ७५ वर्ष तक की वानप्रस्थ की अवस्था सन्यास की तैयारी के लिए होती है। ७५ से १०० वर्ष तक का जीवन सन्यास के लिये रखा। इस काल में व्यक्ति सन्यास ग्रहण करके सभी बन्धनों (सांसारिक) से मुक्त हो जाता है। सन्यास का अर्थ ही अच्छी तरह से रखना अर्थात् दुनिया से अपने आप को हटाकर रखना, उसके बन्धनों—लोभ, मोह, माया, राग-द्वेषादि में न फँसे। वानप्रस्थ में खूब स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करके, योग द्वारा चित्त की एकाग्रता प्राप्त करके, सन्यासी होता है। ज्ञान और वैराग्य दो ही सन्यासी की बड़ी विभूतियाँ हैं। वह सभी जीवों को नित्य अभय दान (क्षमा, दया) देता हुआ नित्य परोपकार में प्रवृत्त रहे।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सन्यासी के बहुत बड़े उत्तरदायित्व की चर्चा सत्यार्थ-प्रकाश के पाँचवे समुल्लास में की है। उन्होंने कहा है कि सन्यासी राजाओं का भी राजा होता है; क्योंकि वह सभी पर शासन करता है अर्थात् सभी को सचेत करता है। वह अग्नि स्वरूप होता है; स्वयं शुद्ध होकर वह औरों को भी प्रबुद्ध करता है। औरों पर शासन करने से पूर्व उसको अपने पर शासन करना होता है। संयम द्वारा आत्मानुशासन की साधन करके ही वह सबका स्वामी बनता है। जो स्वयं पर शासन (आत्म संयम) नहीं कर सकता; वह दूसरों पर भी शासन नहीं कर सकता; और न ही वह औरों को भी उपदेश कर सकता है। जो सर्वस्व त्याग करके मोक्ष प्राप्ति के लिये तत्पर होकर सन्यप्त होते हैं, वे ही सच्चे सन्यासी होते हैं। "नारी मुई घर सम्पत्ति नाशी, मुड मुँडाय भये सन्यासी" वाले लोग सन्यासी नहीं कहला सकते। इस देश के ५० लाख साधुओं की निकम्मी फौज सन्यासी नहीं

कहला सकती। जमात सजाकर स्वर्ण सिंहासन जमाकर महन्त और मठाधीश बनकर चलने वाले लोग सन्यासी नहीं, साधु नहीं; वे तो स्वादु हैं। सन्यासी एक स्थान का मोह न करते हुए सभी जीवों की कल्याणा कामना करते हुए सत्य-धर्म का प्रचार करे। इसी लिए उसे परिव्राजक या परिव्राट् भी कहा जाता है।

समीक्षा

जहाँ पर वर्ण-व्यवस्था एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था है जिसे सामाजिक संरचना (Social Structur) भी कह सकते हैं; वहीं पर आश्रम व्यवस्था वैयक्तिक जीवन की प्रणाली भी है। व्यक्तिगत मानव जीवन को सफल व सुखी बनाने के लिये सभी वर्ण के लोगों की जीवन-पद्धति क्या हो ?—यही हमें आश्रम व्यवस्था दर्शाती है। वास्तव में ही आश्रम व्यवस्था एक सुचिन्तित वैयक्तिक जीवन व्यवस्था थी। मानव जीवन को औसतन सौ वर्ष का मान कर ही ये उपरोक्त चार विभाग किये गये हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम में बच्चों को सभी दुर्व्यसनों से दूर रखकर उसका चरित्र निर्माण करना; उसे शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ और समुन्नत बनाना। गृहस्थ के द्वारा उसकी प्रवत्ति मूलक मनोवृत्तियों का परिपोषण किया जाता है; उनकी परितृप्ति की जाती है। सांसारिक और सामाजिक जीवन में उसे—आर्थिक-राजनीतिक रूप से पूर्णतः विकसित होने का अवसर मिलता है। संसार के सभी रंगों को व्यक्ति देख लेता है। अपनी संसार के प्रति आकर्षण की भावना को वह पूर्ण कर लेता है। अस्तु !

तत्पश्चात् उसे निस्सार समझकर वह निवृत्ति मूलक मार्ग का पथिक होकर अन्तुर्मुखी हो जाता है। उसकी वृत्तियाँ मन मुखी न होकर ईशोन्मुखी हो जाती है। दुनिया अब उसके लिए आकर्षण नहीं रह जाती। वह बाहर से अपनी चित्तवृत्तियों को समेट कर मानसिक शक्ति का सञ्चय करता है। वृद्धावस्था में इन्द्रियों म शिथिलता आने पर उनके विषयों से उनकी विरक्ति स्वाभाविक है। तब शान्तमना होकर स्वाध्याय निरत और जगत् विरत होकर आत्म चिन्तन की ओर वह प्रवृत्त होता है। सन्यासाश्रम उसकी अगली सीढी है। उसमें व्यक्ति साधक न रहकर सिद्ध वन जाता है। वह एकाग्र होकर परमात्मा से तदाकार होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है। वही जीव सभी बन्धनों से अनासक्त होकर जीवन्मुक्ति का आनन्द लूटता है। इस प्रकार संसार के स्वाभाविक मार्ग से गुजर कर मोक्ष के परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर व्यक्ति अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकता है।

———

अध्याय ५

व्यक्ति और समाज

जब हम स्थूल दृष्टि से व्यक्ति और समाज पर दृष्टि डालते हैं तो ये दोनों अलग से दो संज्ञा नहीं दिखाई पड़ती अपितु एक में दूसरे का अर्न्तमान-सा हो जाता है। यदि हम पहले व्यक्ति को लेते हैं, तो समाज की एक इकाई को व्यक्ति कह दिया जाता है और यदि समाज पर दृष्टि निक्षेप करें तो कुछ व्यक्तियों का एक समूह ही समाज की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। लेकिन यदि हम इन दोनों पर पृथक्-पृथक् सूक्ष्मता से दृष्टि करें, तो ये हमें परस्पर अन्योऽन्याश्रित जान पड़ेंगे। तथापि इनमें कुछ अवान्तर भेद है। वह भेद मात्र इनकी पृथक्-पृथक् सत्ता का द्योतक है; वैसे ये दोनों व्यष्टि और समष्टि भेद से एक दूसरे में अर्न्तसमाहित हैं। व्यक्ति समाज में और समाज व्यक्ति में इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, या सामञ्जस्य है। कि जिसके बिना ये दोनों अपने आप में अपूर्ण रह जाते हैं। यदि व्यक्ति समाज में नहीं मिलता तो व्यक्ति की सत्ता मात्र अपने तक परिसीमित रह जायेगी, और यदि समाज व्यक्ति को नहीं अपनाता तो वह समाज नहीं रह जाता। इसलिए इन दोनों का समन्वय नितान्त अनिवार्य है, ये दोनों मानवता रूपी तुला के दो पलड़े हैं; इन दोनों का सन्तुलन बना रहने पर ही मानवता भली-भाँति पुष्पित और पल्लवित हो सकती है, अन्यथा सर्वथा असम्भव ही है। आज इनका सन्तुलन न रहने के कारण ही मानवता ठीक से नहीं पनप रही है। जब तक व्यक्ति अपने को प्रधान मान कर और अपने को समाज का एक अंग न मानकर सामाजिक नियमों की उपेक्षा करता रहेगा, तब तक व्यक्ति और समाज के बीच एक दूरी बनी रहेगी और यही दूरी मानव की मानव से दूरी है। अर्थात् मानव मात्र की मानवता से दूरी है। परिणाम स्वरूप मानवता और समाज सुखी और स्थायी नहीं रह पाते। यहाँ हम मानवता को छोड़कर समाज के साथ ही व्यक्ति के सम्बन्धों पर विचार करते हैं।

ये हम पहले भी कह चुके है कि यद्यपि व्यक्ति और समाज अन्योअन्याश्रित हैं तथापि समान रूप से नहीं। समाज की अपेक्षाकृत व्यक्ति मुख्यतर है। क्योंकि व्यक्ति के अतिरिक्त तो समाज की स्वयं की कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। फिर भी व्यक्ति समाज के पक्ष में समाज से मुख्यतर है, न कि अपने पक्ष में। यदि व्यक्ति समाज की उपेक्षा करते हुए अपने को ही प्रधानता देता है तब वह वैक्तिता नहीं रह जाती—अति वैयक्तिकता हो जाती है। यही आगे चलकर अतिवादिता या अति-मानवीयता को जन्म देती है। और यदि व्यक्ति अपनी अपेक्षाकृत समाज को प्रधानता

दे देता है। तो यह अति सामाजिकता या अति मानवीयता नहीं हो सकती अपितु अत्युत्तम सामाजिकता और अत्युत्तम मानवीयता हो जाती है। ऐसी स्थिति में तो समाज समाज न रहकर स्वर्ग बन जाता है। परन्तु यदि व्यक्ति अपने ही समान समाज को भी महत्व दे तो भी एक स्वस्थ और सुखी समाज की स्थापना हो सकती है। उपरोक्त ये तीनों क्रमशः व्यक्ति की अधम, उत्तम और मध्यम कोटियाँ हैं। अधम कोटि में समाज स्वस्थ और स्थायी नहीं रह सकता। क्योंकि तब तो व्यक्ति यर्थात् मानव न रहकर दानव बन जायेगा। और वह पशु पक्षियों जैसा व्यवहार परस्पर में करने लग जायेगा। उसे केवल अपने सुख में ही सबका सुख और अपने दुख में ही सब का दुख जान पड़ेगा और इसी के अनुसार वह व्यवहार करता हुआ सबके अधिकारों को अपने अधिकार बनाता हुआ अर्थात् दूसरों के अधिकारों को कुचलता हुआ समाज को और अपने को भी पतनोन्मुखी बना देगा। ये मानवता का रौद्र रूप है इस अवस्था में व्यक्ति न तो अपनी ही उन्नति कर सकता है; और न ही समाज की; इसलिए यह व्यक्ति अथवा समाज का निकृष्टतम रूप है और सर्वथा अवांञ्छनीय है।

दूसरी जो अत्युत्तम सामाजिकता वाली बात कही यह व्यक्ति और समाज का सर्वोत्तम एवं शिव रूप है। इसमें व्यक्ति अपनी सत्ता समाज से पृथक् न मान कर समाज को ही अपनी सत्ता समझता है। ऐसी स्थिति में उसका आत्मा स्वात्मा न रहकर विश्वात्मा का व्यापक रूप धारण कर लेता है। यह स्थिति व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष की चरम सीमा है। यह स्थिति पुरातन कालीन बीज भारत में कुछ समय रही तभी भारत अपने चरमोत्कर्ष पर था। इस स्थिति में व्यक्ति को स्वयं को समाज के लिए बलि चढ़ा देना होता है। समाज का दुःख ही उसका दुःख और समाज का सुख ही उसका सुख होता है। ऐसे व्यक्ति महापुरुष कहे जाते हैं, कभी-कभी तो समाज उनसे उपकृत हो उन्हें भगवान तक की संज्ञा दे बैठता है। किसी कवि ने भी इसी कथन की पुष्टि करते हुए कहा है—

जो दीन दुःखी जन से प्रतिक्षण,
अनुभव करते हैं अपना पन।
हैं वे ही साधु और सज्जन,
समझो उनमें ही है भगवन॥

इस रूप को व्यक्ति और समाज सम्भवतया ही किसी काल में धारण कर पाते हैं, अन्यथा यह असम्भव प्रायः प्रतीत जान पड़ता है।

तीसरी कोटि जो मध्यम कोटि है, उसमें समाज भी अपने समान महत्व देता है। तब दोनों में एक समावेश या सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों ही अपना पूर्णरूपेण स्वतन्त्र विकास कर सकते हैं। यह स्थिति दोनों में सन्तुलन भी बनाये रखती है। यह स्थिति समाज में स्थायीत्व की भी स्थापना करती है और सम्भव तथा सुलभ भी है। यदि व्यक्ति और समाज इस कोटि में भी अपने को केन्द्रित कर लें तो व्यक्ति व्यक्ति को समाज

से पलायन कर स्वर्ग या जंगल की शरण न लेनी पड़े और सभी सर्वदा सुखी रह सकते हैं।

पूर्ण मानवता

संसार की प्रत्येक वस्तु का चरम लक्ष्य पूर्णता की प्राप्ति है। इस दृश्य जगत के सभी पदार्थ उसी को अपना ध्येय बनाकर गतिशील हैं। नदियाँ पूर्णता को प्राप्त होने के लिए ही निरन्तर विवाद करती हुई सागर की ओर ही उन्मुख होकर दौड़ रही हैं। पर्वत ऊँचा उठने में प्रतिस्पर्द्धा सी कर रहे प्रतीत होते हैं। क्योंकि उच्चता में ही उनकी पूर्णता निहित है। विशाल महासागर जलाप्लावित होकर भी अधिकाधिक जल को चिर हृषित की भांति अपने गर्भ में समेटे जा रहे हैं यद्यपि हमारी दृष्टि में वे पूर्ण प्राय हैं परन्तु अपने आप में वे अपूर्ण ही ही हैं और इसकी प्राप्ति में निरन्तर निरत हैं।

हम विचार कर देखें कि जब ये अचेतन पदार्थ भी पूर्णता के लिए इतने उत्कंठित और उत्सुक हैं तो मानव जैसा सर्वोच्च चेतन प्राणी कैसे अपूर्ण रह सकता है। परन्तु आश्चर्य का विषय है कि वह अपूर्णता में ही सन्तुष्ट रह जाता है। यह उसकी महान भूल है और लक्ष्य के प्रति उपेक्षित भावना है। मानव अन्य प्राणियों की अपेक्षाकृत पूर्ण है तथापि अपने आप में वह अपूर्ण ही है। उसे पूर्ण बनने की नितान्तावश्यकता है तभी वह सर्वोपरि कहा जा सकता है। पूर्णता ही उन्नति हैं। पूर्णता उन्नति का पूरक ही है। बल्कि पूर्णता ही अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उन्नति तो आंशिक पूर्णता है लेकिन पूर्णता सर्वांश में पूर्णता ही है उसमें कोई न्यूनता नहीं। इसलिये पूर्णता शब्द उन्नति की तुलना में व्यापक और विस्तृत है। संक्षेप में पूर्णता का अर्थ सर्वतोमुखी उन्नति है। वही मानव मात्र के उत्कर्ष की परम पराकाष्ठा है। उस को प्राप्त होकर ही मानव जीवन सफल और सुरम्य बन सकता है अन्यथा असम्भव ही है।

पूर्णता की आवश्यकता और उपादेयता पर विचार करने के अनन्तर प्रश्न उठता है कि कौन-कौन सी मानवीय उन्नितयाँ पूर्णता के अन्तर्गत आ सकती है? क्या एक उन्नति ही पूर्णता की संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकती? क्योंकि सभी की सभी प्रकार की उन्नति होना सम्भव भी नहीं। परमपिता परमेश्वर ने मानव को दिव्य-धाम प्रदान किया है। "अष्टाचम्मा नव द्वारा नायूरो अयोध्या:" वेद में मानव के शरीर के लिए ही कहा गया है। इसमें वे अन्नत दैवी शक्तियां अर्न्तसमाहित है जिन्हें जागृत कर मानव चहुमुखी उन्नति प्राप्त कर सकता है। उसके लिए संसार में कोई कार्य दुष्कर नहीं रह सकता और इतना सब कुछ होने पर यह स्वाभाविक ही है कि उसके लिये संसार के सभी प्रकार के सुखोपभोग के पदार्थ सुलभ हो जायेंगे इसी में ही उसकी पूर्णता है। सर्वशक्ति सम्पन्नता में ही पूर्णता है इससे भिन्न वह कुछ नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि इन दैवी शक्तियों को प्राप्त कैसे किया जाये जिनसे

हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। इनका साधक क्या हमारा शरीर ही है या मन आत्मा भी? इसका सरल सा उत्तर यही हो सकता है कि शरीर, मन और आत्मा ये तीनों ही पूर्णता के साधक हैं। अकेले अकेले में तीनों असमर्थ और असहाय हैं। यद्यपि मन का महत्व भारतीय मनीषियों ने अपेक्षाकृत अधिक माना हैं क्योंकि उन्होंने कहा है "मन एवं मनुष्यानां कारणं बन्धमोक्षयो:"। कि मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का एक मात्र कारण है। यद्यपि ये निर्विवाद सत्य है कि मन ही मुख्य है तथापि शरीर और आत्मा का भी अपना अपना स्वतन्त्र महत्व है। अतः इन्हें भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। शरीर, मन और आत्मा इन तीनों के आधार पर ही उन्नति के भी तीन विभाग कर दिये जाते हैं। प्रथम शारीरिक द्वितीय मानसिक अथवा (बौद्धिक) और तृतीय आत्मिक अथवा आध्यात्मिक।

हमारी भारतीय संस्कृति सूक्ष्म मूलक है। इसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ स्थूल ये सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता है ठीक इसी सिद्धान्त के अनुसार शरीर, मन और आत्मा तीनों क्रमशः सूक्ष्मतर हैं। और क्रमशः तीनों एक दूसरे से महत्वपूर्ण और महत्वशाली भी हैं। ये तीनों पूर्णता रूपी भव्य भवन के तीन स्तम्भों की भांति हैं। इसलिए इन तीनों का ही विकास अथवा उन्नति अनिवार्य है।

शरीर, मन और आत्मा तीनों की उन्नति की आवश्यकता के अन्नतर यह प्रश्न आता है कि इन तीनों का विकास कैसे और किस क्रम से हो सकता है। इस में यही कहा जा सकता है कि वैसे तो एक ही समय में साथ-साथ तीनों उन्नति अनिवार्य हैं तथापि इनके लिये अवस्था अथवा आयु वैशिष्ठ्य भी होना आवश्यक है। क्योंकि किसी विशेष व्यवस्था में कोई उन्नति विशेष ही हो सकती है जैसे कि बाल्यकाल में मन और आत्मा की तुलना में शरीर की ही अधिक उन्नति होती है।

इस समस्या के समुचित समाधान के लिए ही भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन के चार विभाग किये हैं जिन्हें आश्रम कहा जाता है। ये क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और तृतीय सन्यासाश्रम हैं। इनमें से प्रथम आश्रम शारीरिक, दूसरा मानसिक अथवा बौद्धिक तथा तीसरा और चौथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये हैं। इसी व्यवस्था के अनुसार ही इन तीनों का पृथक-पृथक और पूर्ण विकास किया जा सकता है।

भारतीय धर्माचार्यों के मतानुसार शरीर, मन और आत्मा तीनों को उन्नत बनाकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना मानव की पूर्णता का परिचायक है। पृथक पृथक् रूप में ये चारों अपर्याप्त हैं। यदि हम मात्र धर्म से ही पूर्णता को प्राप्त होना चाहें यह कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव भी है। इसलिए धर्म के साथ अर्थ, काम और मोक्ष भी अनिवार्य है। लेकिन ये निश्चित है कि बिना तीनों प्रकार की उन्नति के इनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए हमें शरीर, मन और आत्मा तीनों का ही पूर्ण विकास करना चाहिये तभी हम सर्वोन्नत और सर्वोच्च बनकर पूर्णता के अधिकारी हो सकते हैं और सच्चे अर्थों में मानव कहला सकते हैं। अतएव

हमें उपनिषद् के कथनानुसार "उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" अर्थात् उठो जागो और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ो तथा उन्हें प्राप्त करो, को मानकर निरन्तर "चरैवेति चरैवेति" को ही अपना ध्येय बनालें और पूर्णता के पात्र बन जायें इसी में जीवन की सार्थकता समाहित है।

समाज में सदाचार की महत्ता

सदाचार की महत्ता बताने से पूर्व सदाचार क्या है ? इस बात पर विचार करना उचित जान पड़ता है। सदाचार अलग से कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर हम सीधे विचार कर सकें सदाचार से पूर्व आचार जानना अनिवार्य है क्योंकि सदाचार आचार का ही एक भेद है। आचार के सदाचार और दुराचार दो पक्ष हैं। सदाचार उसका उज्ज्वल पक्ष है। इसी पर हमें प्रस्तुत लेख में सूक्ष्म दृष्टिपात करना है।

आचार हमारे व्यक्तिक व सामाजिक जीवन की गतिविधियों का लेखा-जोखा है। और सत्य से समाहित जो हमारी गतिविधियाँ हैं वही सदाचार के अन्तर्गत आती हैं। आचार समाज में व्यक्ति के मूल्याँकन की कसौटी है। वही उसे समाज में यथायोग्य स्थान प्रदान करती है। व्यक्ति अपना मूल्याँकन भी अपने आचार के आधार पर ही करता है और उसी के अनुरूप वह समाज में व्यवहृत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार वैयक्तिक और सामाजिक जीवनों के बीच की कड़ी है इसलिये उसकी महत्ता सर्वविदित और शाश्वत है।

सर्वप्रथम हम शास्त्रीय वाक्यों को इस सन्दर्भ में प्रमाण रूप में रखना चाहेगें शास्त्रों में "आचारों परमः धर्मः" कहकर आचार को सर्वोपरि धर्म के स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है क्योंकि वह धर्म की मूल है उसके बिना धर्म की परिपालना असम्भव और असाध्य है। इससे बढ़कर सदाचार की ओर क्या महत्ता हो सकती हैं।

वेदों की कल्याणी वाणी को पतितपावनी माना जाता है परन्तु वेद ने स्वयं कहा है कि आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" अर्थात् आचारहीन व्यक्ति को तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। इतना ही नहीं वेद भगवान तो यहाँ तक भी कहते हैं कि "आचाराद्विच्युतो विप्रोऽपि न वेद फलंमश्नुते।" कि आचार से गिरा हुआ तो ब्राह्मण भी जिसे ब्रह्मा का प्रतिनिधि मानव समाज में माना जाता है, वेदाध्ययन के फल को प्राप्त नहीं कर सकता।

सभ्य अथवा शिक्षित समाज में आचार्यों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है वह भी उनके आचार की परिपालना का परिचायक है क्योंकि संस्कृत में आचार्य की निरुक्ति "आचारमाचिनोतिती आचार्यः" कहकर की जाती है। जिन धर्माचार्यों के पीछे मानव समाज का एक बड़ा भाग लग लेता है वह भी उनकी आचार पालना का ही प्रतीक है।

सदाचार की महत्ता को हम दो प्रकार से प्रतिपादित करेंगे। पहली प्रकार

से व्यक्तिगत जीवन में उसकी उपादेयता और महत्ता दूसरे सामाजिक जीवन में उसका महत्व ।

सदाचार व्यक्ति को श्रमशील और संयमित बनाता है । सदाचारी व्यक्ति समय का सदैव सदुपयोग करता है । सदाचारी सदैव सादगी को महत्व देता है इसलिये वह अपव्यय से परे रहता है सदाचारी व्यक्ति मात्र बौद्धिक अथवा आर्थिक उन्नति से ही संतुष्ट नहीं हो जाता प्रत्युत् शारीरिक और आत्मिक उन्नति के लिये भी सन्नध रहता है । सभी प्रकार से उन्नति करके ही मानव पूर्ण बनता है एकांगी उन्नति मनुष्य को पंगु अथवा अन्धा बना देती है । इस प्रकार सदाचारी ही पूर्ण मानव कहलाने का अधिकारी हो सकता है । सदाचारी व्यक्ति में स्वावलम्बन, आत्मविश्वास, पौरुष जैसे उन्नति-साधक गुण सहज में ही देखे जा सकते हैं । सदाचारी व्यक्ति शरीर से श्रम करता है अतः उसका शारीरिक विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है । श्रमशील होकर वह अर्थोपार्जन करता है और सतत स्वाध्यायशील रहता है अतः उसकी आर्थिक और बौद्धिक उन्नति भी प्रशंसनीय होती है । इसके अतिरिक्त सदाचारी व्यक्ति का धर्म के प्रति सहज अनुराग होता है जिससे वह आत्मिक उन्नति भी प्राप्त कर पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करता है

भारतीय चिन्तन में समन्वय का स्थान

प्रत्येक राष्ट्र अथवा जाति का एक अपना चिन्तन वैशिष्ठ्य रहा है । जो परम्परागत प्रवाहित होता रहता है । जैसे कि पश्चिमी राष्ट्रों के चिन्तन में समाज की अपेक्षाकृत वैयक्तिक जीवन सदैव से प्रमुख रहा है । उनका चिन्तन व्यक्ति विशेष को ही बढ़ावा देकर समाज की उपेक्षा कर देता है इसलिए वे राष्ट्र उस सामाजिक उन्नति के उत्कर्ष को प्राप्त नहीं कर सकते जिसको भारत प्राप्त कर सकता है और किया भी है । कुछ राष्ट्रों के चिन्तन में आध्यात्मवाद की अपेक्षाकृत भौतिकवाद का प्राधान्य है । यद्यपि ये राष्ट्र आज के मानव समाज में उन्नत कहे जाते हैं तथापि उनका जीवन एकांगी और अर्धोन्नत है क्योंकि भौतिकवाद का अवलम्बन पाकर कोई राष्ट्र इहलौकिक उन्नति तो कर सकता है परन्तु पारलौकिक उन्नति से वह फिर भी परे ही रह जायेगा । मात्र भौतिक उत्कर्ष मानव जीवन का ध्येय नहीं यदि कोई माने भी तो पर्याप्त नहीं ।

भारतीय चिन्तन का मूलाधार युगों युगों से आध्यात्मवाद रहा है । इसलिये विश्व के अन्य राष्ट्र उसे कोरा आध्यात्मवादी मान बैठते हैं लेकिन यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तोपता चलेगा कि उन राष्ट्रों ने भारतीय जीवन का अथवा चिन्तन का भली-भाँति अध्ययन ही नहीं किया । किसी भी जाति अथवा राष्ट्र का चिन्तन उसका जीवन दर्शन होता है उसके आधार पर ही उतका मूल्याँकन किया जा सकता है । भारतीय जीवन-दर्शन सदैव से समन्यवादी रहा है वह एक मात्र कोरे आध्यात्मवाद की दुहाई नहीं देता । दूसरे राष्ट्र उसे घोर धार्मिक स्वीकार करते है लेकिन क्या

उन्होंने कभी भारतीय धर्म की परिभाषा पर भी ध्यान दिया है ? "यतोऽग्युदय निश्रेयससिद्धि स धर्मः इति निश्चय" यह भारतीय धर्म की रूपरेखा है। इसी से पता लग जाता है कि भारतीय जीवन-दर्शन आध्यात्मवाद और भौतिकवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। केवल धर्म के क्षेत्र में ही नहीं सभी क्षेत्रों में भारतीय चिन्तन-प्रवाह समन्वित दृष्टिगोचर होता है। और तो क्या वेद; जो भारतीय जीवन दर्शन की रीढ हैं, में भी समन्वय का स्पष्ट निर्देश है, लिखा है—

"विद्यां च अविद्यां च यस्तद्वेदोदुभयं सह ।
अविद्या मृत्युं तीर्खा विद्याऽमृतमश्नुते ॥"

जिसका सार है कि भौतिकवाद और आध्यात्मवाद दोनों का ही जीवन में समावेश होना चाहिए; भौतिकवाद से दुःख दुविधाओं की निवृत्ति होगी और आध्यात्मवाद से अमर तत्व की प्राप्ति होगी ।

सामाजिक क्षेत्र में भी भारतीय चिन्तन व्यक्ति और समाज के समन्वय पर जोर देता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज की एक इकाई है इसलिए न तो व्यक्ति को ही उपेक्षित रखा जा सकता है और न ही सामाजिक भावना की अवहेलना की जा सकती है क्योंकि समाज मानवों का संगठित समुदाय है इस प्रकार एक पर दूसरे की उन्नति अवलम्बित है ।बौद्धिक उत्कर्ष के क्षेत्र में भी भारतीय चिन्तन केवल आध्यात्मवाद के दुर्गम कान्तारों में ही भटक कर नहीं रह गया है अपितु उसने भौतिकवाद को भी प्रमुख स्थान दिया हैं क्योंकि आध्यात्मिक उत्कर्ष को तो केवल उसने ज्ञान की ही संज्ञा दी है परन्तु भौतिक उत्कर्ष को विज्ञान की संज्ञा प्रदान की है इस संज्ञा मात्र से ही हमें विज्ञान का वैशिष्ठ्य जान पड़ता है। ज्ञान से जहाँ पारलौकिक उन्नति का द्वार मानव के लिये उद्घाटित हो जाता है वहाँ विज्ञान रूपी दीपक से समस्त साँसारिक भय और बाधा प्रकाशित हो उठते हैं जिनको पारकर मानव इहलौकिक उन्नति कर सकता है। भारतीय चिन्तन व्यक्ति विशेष की उपेक्षा कर सभी का हित-चिन्तन करता है।

"सर्वे भवन्तु सुखीनः सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चि दुख भाग भवेद् ॥"

उसका मूल मन्त्र है ।

अध्याय ६

विद्यार्थी जीवन (ब्रह्मचर्य)

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को बड़ी गहराई से देखा और परखा था। क्योंकि वे मनुष्य को परमात्मा की सर्वोत्तम कृति (Master piece) मानते थे। उनका अभिमत था कि जो सोच विचार कर कार्य करे वही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है; अन्यथा नहीं। बिना विवेक के तो मनुष्य और पशु दोनों समानधर्मी हैं। संस्कृत का एक श्लोक है—

आहार निद्रा भय मैथुन्न,
सामान्यमेतत् पशुभि न रागां।
धर्मों हि तेषामधिको विशेष:,
धर्मेण हीन: पशुभि समान: ।।

अर्थात् खान-पान, विश्राम, भय मैथुनादि क्रियाओं में मनुष्य और पशु समान ही है। धर्म (विद्या, बुद्धि) ही उनके (मनुष्यों) अन्दर विशेष है; उसके बिना मनुष्य भी पशु ही हैं। इस विषय को दृष्टिगत रखते हुए प्राचीन भारतीय महामनीषियों ने मानवीय जीवन को एक बड़ी ही सुव्यवस्थित सुदृढ़ और सुश्रृंखलित जीवन की व्यवस्था दी थी। जिसको आश्रम-व्यवस्था भी कहा जाता था। चार आश्रम थे— ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, सन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्थी जीवन का ही पर्याय है। क्योंकि ब्रह्म का एक अर्थज्ञान अर्थात् विद्या भी है। उसी के सन्दर्भ में हमें यहाँ विचारना है।

विद्यार्थी के लक्षण

विद्यार्थी के लक्षणों से पूर्व हमें विद्या के विषय में भी कुछ जान लेना चाहिए। विद्या का शाब्दिक अर्थ विद् ज्ञाने धातु से ज्ञान ही निकलता है। ज्ञान से तात्पर्य है तत्वज्ञान। जोकि हमें सांसारिक बन्धनों अर्थात् दुःखों से मुक्त करा दे और अमरत्व अर्थात् परमसुख (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति करादे। वेद में भी आता है। "या विद्या सा विमुक्तये" अथवा विद्या अमृतमश्नुते। अर्थात् विद्या वही है जो कि मुक्तिकारक हो और अमरत्व को प्राप्त कराने वाली हो। अमरत्व से तात्पर्य चरम आनन्द की स्थिति से है। परमानन्द अर्थात् मोक्ष प्राप्ति ही हमारे मनीषियों का परमोद्देश्य था। इसीलिए उन्होंने जीवन के चार पुरुषार्थों का विधान करते समय मोक्ष को अन्त में रखा था। यह मानव मात्र का चरमोत्कर्ष-बिन्दु है। विद्या को उन्होंने इसकी साधिका के रूप में रखा था, इसलिये उसको चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान दिया। नाम भले ही

उसका धर्म रखा। क्योंकि विद्या भी धारण की जाती है। जो उसको अच्छी तरह धारण करता है, वही विद्यार्थी होता है।

अच्छे विद्यार्थी में बहुत सारे गुणों का होना अनिवार्य है। शास्त्र में प्रमुखतः विद्यार्थी के जो लक्षण गिनाए हैं वे हैं—

"काक चेष्टा, वकोध्यानं श्वन्निद्रा तथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्च लक्षणम्॥"

अर्थात् विद्यार्थी को कोए जैसी चतुरता बगुले जैसा ध्यान, कुत्ते जैसी निद्रा, अल्पहार, गृहत्याग युक्त होना चाहिये। तभी वह सुचारु रूपेण अध्ययनरत रह सकता है अन्यथा असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त उसको विनय सम्पन्न अष्टमैथुन त्यागी, कुसंगति से विमुक्त होना चाहिए। संक्षेप में ये ही अच्छे विद्यार्थी के लक्षण गिनाये गये हैं।

वर्तमान स्थिति

समय-चक्र परिवर्तनशील है, वह सदैव समान नहीं रहता। पुराने छात्र की और आज के छात्र की स्थिति में बहुत अन्तर आ चुका है। जो लक्षण पुराने काल में विद्यार्थी के बताये थे, वे पूर्णतः या अक्षरशः आज के विद्यार्थी पर गठित नहीं हो सकते। इसका कारण उनके परिवेश और परिस्थिति हैं। गृहत्यागी और अष्ट मैथुन मुक्त होना पुराने विद्यार्थी के लिए सम्भव था; लेकिन आज के विद्यार्थी के लिये पूर्णतः सम्भव ही नहीं हैं; बल्कि असम्भव भी है। उस समय विद्यार्थी ऋषि आश्रमों और गुरुकुलों में विद्या ग्रहण किया करते थे, जोकि प्रायः निर्जन वनों में स्थित हुआ करते थे। गाँवों और महानगरों की चमक-दमक से वे सर्वथा दूर रहते थे; इसलिए उनमें उपर्युक्त लक्षणों का चरितार्थ होना सहज और सरल था। लेकिन आज इस वैज्ञानिक औद्योगिक युग में विद्यार्थी का सामाजिक दोषों से बचना सर्वथा असम्भव-सा है। दूसरे आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से आज के विद्यार्थी और विद्यार्थी सम्बन्धी सामाजिक मापदण्ड भी बदल गये हैं। पहले का विद्यार्थी जहाँ पर सरलता और सादगी की मूर्ति होता था, वहाँ पर आज का विद्यार्थी तड़क-भड़क का नमूना है। जहाँ पहले का विद्यार्थी विनम्र, सुशील, शान्त और धैर्यवान, तपस्वी होता था; वहीं पर आज का विद्यार्थी उच्छृखल अशान्त और अधीर है। कर्त्तव्य-निष्ठा, गुरु सेवा, पितृ भक्ति से भी अब उसने अपना पल्ला झाड़ लिया है और इस प्रवृत्ति को प्रगतिशीलता (Forwordness) समझा जाता है। यही आज के विद्यार्थी की महती विडम्बना और आत्म-प्रवञ्चना है। जिसके परिणाम-स्वरूप वह टकराव और भटकाव की स्थिति में है। यद्यपि उसमें नव्य-भव्य सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का उदय और विकास हुआ है। तदापि उसे सुसभ्य नागरिक बनने के लिए, कर्त्तव्य-निष्ठा, स्वदेश-प्रेम, पितृ-भक्ति की भावना रखना अनिवार्य है।

विद्यार्थी जीवन का महत्व

विद्यार्थी-जीवन हमारे भावी जीवन रूपी भव्य-भवन की आधारशिला है।

जिस भवन की नींव ही कमजोर होगी क्या कभी वह भवन चिर स्थायी रह सकता है ? कदापि नहीं। इसलिये हमें उसके महत्व को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने इस विषय में बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला है। उनकी नीति का कथन (श्लोक) है-—

"प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितन्धनं।
तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति ॥"

अर्थात् जिसने प्रथम अवस्था (विद्यार्थी काल) में विद्या प्राप्त नहीं की, दूसरी अवस्था (गृहस्थाश्रम) में धन नहीं कमाया; और तीसरी अवस्था (वानप्रस्थावस्था) में तप नहीं किया। वह अग्रिम अवस्था अर्थात् सन्यास में क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं।

मानव जीवन के लिये चार पुरुषार्थ वताये; उनके लिए चार ही आश्रम बनाये। ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी जीवन) में जो विद्या प्राप्ति नहीं करेगा, वह गृहस्थ में धन भी नहीं कमा सकता; इसलिए गृहस्थ भी दुःखमय होगा और जो गृहस्थ में सुख पूर्वक नहीं रहेगा, वह आगे वानप्रस्थ में तपस्या भी नहीं कर सकता और जो तपस्या भी नहीं कर सकता, वह सन्यास को प्राप्त होकर मोक्षगामी भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार से यह एक बड़ा ही सुनिश्चित क्रम है।

विद्यार्थी जीवन निर्माण काल है। जिसको जो कुछ वनना होता है; वह विद्यार्थी-काल में ही बन लिया होता है। उसकी भावी-भव्य जीवन रूपी विटप के बीज बिन्दु विद्यार्थी जीवन में ही अन्तर्निहित होते हैं। अतएव हमको उज्जवल सुनिश्चित जीवन-निर्माण के लिये विद्यार्थी जीवन के महत्व को समझना चाहिए। समय का सदुपयोग करना चाहिये, दुर्गुणों से बचना चाहिए। तभी हम अपनी सर्वांगीण उन्नति करके अपने और देश के लिये उपयोगी हो सकते हैं।

शिक्षा की अवधारणा और प्रयोजन

भारतीय समाज में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है। शिक्षा को विद्या और ज्ञान भी कहा जाता है। ज्ञान को बहुत ही पवित्र और कल्याणकारी माना गया है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, "नहि ज्ञानेन सदर्श पवित्रं कश्चिदिह विद्यते" कि ज्ञान के समान पवित्र और कोई वस्तु दुनिया में नहीं है। हमारे यहाँ विद्या के बिना मनुष्य को पशु तुल्य माना गया। विद्वानों और ज्ञानी लोगों को इस समाज में सदैव सम्मान मिलता रहा है। एक विद्वान को एक राजा की अपेक्षाकृत यहाँ पर व्यापक सम्मान मिलता था। जैसा कि आचार्य चाणक्य ने लिखा भी है—

"स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान सर्वत्र पूज्यते"। अस्तु।

पुराने जमाने में शिक्षा को सभी वन्धनों और चिन्ताओं से मुक्त करने वाला माना जाता था। वेद में तो विद्या का लक्षण ही यह बताया कि विद्या वह है जो हमको सांसारिक और पारमार्थिक सभी प्रकार के वन्धनों और दुःखों से छुड़ाकर परम

आनन्द की प्राप्ति कराये। इस तरह के कितने ही मधुर मिथक विद्या से पुराने जमाने में जुड़े हुये थे और यह सब केवल कल्पना ही नहीं उस समय के समाज की अवस्थिति के अनुरूप संगत भी था; लेकिन आज के युग में आकर विद्या के साथ जुड़े हुए ये सारे स्वप्न टूटते से दिखते हैं। आज शिक्षा का प्राचीन सन्दर्भ बदल गया है। आज के इस बदले हुए परिवेश में ही हमें वर्तमान शिक्षा प्रणाली का आकलन करना होगा। और अपनी वर्तमान राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप ही नयी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का स्वरूप निर्धारित करना होगा। क्योंकि आज शिक्षा केवल व्यक्तिगत जीवन का अनुषंग भर नहीं है; अपितु अब तो वह एक राष्ट्रीय आवश्यकता बन गयी है। इसलिए सर्वप्रथम हमें शिक्षा का वास्तविक अर्थ और उद्देश्य समझना होगा। तभी उसकी प्रक्रिया और संरचना समझी जा सकती है।

शिक्षा का शाब्दिक अर्थ सीखना है और विद्या का व्याकरणिक अर्थ जानना है। ज्ञान जानने की प्रक्रिया का ही नाम है। शिक्षा की भारतीय अवधारणा बहुत कुछ अन्तर्मुखी रही है; जिसके अन्तर्गत बाहर की चीजों की जानकारी ज्यादा से ज्यादा जुटाना और उसका अपने जीवन में उचित उपयोग करना प्रमुख रहा है। दूसरे अर्थों में दुनिया को जानना और अपने आप को उसके अनुसार समंजित करना भी हम इसे कह सकते हैं। आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों की शिक्षा के विषय में अवधारणा कुछ भिन्न है। अंग्रेजी में शिक्षा को एजुकेशन कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ भीतर से बाहर की ओर बढ़ना या जानना है। अर्थात् व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सत्ता से बाहर की ओर बढ़ता है: कुछ जानकर अपना आत्म-विकास करता है। अपने अन्तर्निहित शक्तियों का विकास और विस्तार करता है। जहाँ वह स्वयं दुनिया के अनुसार ढलता है; वहीं पर वह दुनिया को अपने अनुसार बदलने की भी चेष्टा करता है।

इस प्रकार से हमने देखा कि शिक्षा की दोनों अवधारणायें—प्राचीन और आधुनिक अथवा भारतीय और पाश्चात्य दोनों-शिक्षा का व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योगदान मानते हैं और यह समीचीन भी है; क्योंकि शिक्षित-दीक्षित लोग और समाज ही उन्नति के शिखरों को छू सके हैं। शिक्षा ही व्यक्ति को आत्म-विश्वास का सम्बल देती है। शिक्षा ही उसे समाज में अपने आपको प्रमाणित करने का अवसर और उसके अनुरूप योग्यता भी प्रदान करती है। अशिक्षित व्यक्ति में आत्म-विश्वास और आत्मावलम्बन का अभाव होता है। वह कदम-कदम पर दूसरों का मुँह ताकता है। शिक्षा व्यक्ति को महत्वाकांक्षी बनाती है। उसमें आगे बढ़ने की इच्छा उत्पन्न करती है और इतना ही नही वह उसे प्रगति और विकास का रास्ता भी दिखाती है। अतएव निःसन्देह मानव जीवन में शिक्षा अपरिहार्य है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति को सच्चे अर्थों में पूर्ण मानव बनाना था; क्योंकि मनुष्य जन्मना पशुओं जैसा ही है; विद्या ही उसे सुसभ्य और सुसंस्कृत नागरिक बनाती है। प्राचीन शिक्षा का आदर्श वाक्य था––मनुर्भव।

अर्थात् मनुष्य पहले मनुष्य बने। केवल मनुष्य का शरीर भर पा लेना ही मनुष्यपन नहीं है। जब तक उसमें मानवता के स्नेह, सहकार और सहानुभूति, दया व करुणा जैसे माननीय मूल्य नहीं होंगे; तब तक उसको मनुष्य नहीं कहा जा सकता। मानव की मानवीय चेतना को विकसित और उन्नत तथा उर्ध्वगमित करना ही प्राचीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। मनुष्य होने के लिए यह पहली शर्त है कि वह मानव बने और सब कुछ वह बाद में बने। वह प्रोफेसर, इन्जीनियर और डाक्टर बनने से पहले एक अच्छा भला इन्सान बने यह शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य होना चाहिए।

पुराने जमाने की शिक्षा पद्धति में दो चीजें मुख्य थी—ज्ञान और सदाचार। पहले उत्तम से उत्तम और ज्यादा से ज्यादा ज्ञान प्राप्त करना और फिर उसके अनुसार आचरण करके जीवन बिताना होता था। लेकिन आज की शिक्षा का जोर ज्ञान पर तो है; परन्तु आचरण पर उतना नहीं है। ज्ञान आजकल स्कूलों, कालिजों और विश्वविद्यालयों में पहले से कहीं अधिक दिया जाता है; लेकिन उसका आचरण और व्यावहारिक जीवन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यह ज्ञान के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण का भी परिणाम कहा जा सकता है; जहाँ पर ज्ञान को मात्र बौद्धिक व्यायाम माना जाता है। वहाँ पर यह जरूरी नहीं है कि जो पढ़ा जाये उसके अनुसार जिया भी जाये। जिया उसके सर्वथा विपरीत भी जा सकता है। पश्चिम में ज्ञान या शिक्षा केवल जानने के लिए है; जबकि प्राचीन भारत में वह जीवन के लिए थी। यही सबसे बड़ा अन्तर प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा पद्धतियों में आ गया है। जिसके कारण उनके उद्देश्य भी बदल गये हैं। प्राचीन काल में शिक्षा के लक्ष्य थे। ज्ञानार्जन और आनन्दानुभूति या मुक्ति प्राप्ति। कई विचारक ऐसा मानते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा निवृत्ति-मूलक थी : पलायनवादी थी। वह आदमी को बजाय इस वास्तविक जीवन के लोक-परलोक का मोहक मधुर स्वप्न दिखाकर कल्पनाशील और अव्यावहारिक भी बनाती थी। ऐसे विचारक यह भी मानते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पूर्णतः भौतिकवाद विरोधी थी। उनके अनुसार वह शिक्षा प्रणाली व्यक्ति को दुनिया की कठोर वास्तविकता से जूझने के बजाय उसे पलायनवादी बनाती थी। लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं था। हमारी पुरानी शिक्षा की पाठ विधि में लौकिक और पारलौकिक दोनों विषयों का समुचित समावेश था। प्रमाण स्वरूप हम ईशोपनिषद् का निम्नलिखित मन्त्र देख सकते हैं।

"विद्यायां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।"
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा, विद्यया अमृतमश्नुते।"

अर्थात् विद्या (ब्रह्म ज्ञान) और अविद्या (भौतिक विज्ञान) दोनों के साथ-साथ प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि भौतिक विज्ञान के जानने से सांसारिक दुःखों की समाप्ति होती है और ब्रह्म ज्ञान या आत्मज्ञान से अमरता प्राप्त होती है। इन्हीं दोनों विद्याओं को प्राचीन काल में परा और अपरा विद्या भी कहा जाता था जो व्यक्ति केवल परा ज्ञान में ही रत हो उसे भी अन्धा कहा गया है और जो अपरा में

ही संलग्न है, वह पहले से भी बढ़कर अज्ञानी बतलाया गया है; क्योंकि जीवन में विज्ञान और ज्ञान दोनों की ही जरूरत है। भौतिक विज्ञान से जहाँ पर मानव की सभ्यता का विकास होता है; वहीं पर आध्यात्मिक ज्ञान से उसका आत्मिक और सांस्कृतिक विकास होता है। मानव जीवन और समाज में इन दोनों के समुचित और संतुलित समविकास की आवश्यकता है।

आज हमारी शिक्षा की पाठविधि में भौतिकवादी विज्ञानों पर ज्यादा जोर दिया जाता है और आध्यात्मिक ज्ञान की उपेक्षा की जाती है। हम भौतिक विज्ञानों के अध्ययन-अध्यापन के विरोध नहीं है। उनको तो पढ़ाया ही जाना चाहिये; क्योंकि जीवन-यात्रा के निवर्हन के लिये उनकी विशेष आवश्यकता है। आज शिक्षा केवल प्राचीन उद्देश्यों-ज्ञान और सदाचार तक ही सीमित नहीं रह सकती। अब ज्ञानर्जन से भी कहीं पहले अर्थोपार्जन-क्षमता उत्पन्न करना उसका पहला कर्त्तव्य बन गया है। क्योंकि पहले जनसंख्या कम थी; श्रम और उत्पादनों के साधनों का विभाजन उचित अनुपात में था; इसलिये इतनी बेरोजगारी और भुखमरी नहीं थी। रोजी-रोटी की चिन्ता से लोग मुक्त थे। सब के अपने बन्धे बन्धाये व्यक्तिगत पैतृक व्यवसाय थे, जिनमें विद्यार्थी विद्यापार्जन के उपरान्त स्वतः ही समंजित और स्थापित हो जाता था। लेकिन अब ऐसा नहीं रह गया है। जीवन का संघर्ष पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है; क्योंकि साधन सीमित है और जनसंख्या असीमित है। इसके साथ-साथ साधनों का समानुपात में बंटवारा भी नहीं है। कम लोगों के पास असीमित साधन संचित है; ऐसी स्थिति में दूसरे ज्यादा लोगों का अभाव में जीना तो स्वाभाविक ही है।

हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली जहाँ पर हमारे विद्यार्थियों को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाये वहीं पर सदाचार की भावना भी उनमें भरे। जहाँ पर उनका बौद्धिक विकास करे; वहीं पर उनका मानसिक और भावात्मक विकास भी करे। अज्ञान, अन्याय और अभाव, मानव समाज के सबसे बड़े शत्रु है। इनके निर्मूलन से ही मानव समाज सुखी हो सकता है। प्राचीन समाज व्यवस्था और शिक्षा प्रणाली में इनका निर्मूलन क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य करते थे। आज भी हमें अपनी शिक्षा विधि द्वारा ऐसे देशभक्त नागरिक तैयार करने होगें जो अपने व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी संघर्ष करें। सामाजिक समता और संवृद्धि की लड़ाई लड़े। जिन नागरिकों में कुछ सामाजिक चेतना हो और मानव-मूल्यों के प्रति जिनकी आस्था हो। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, आर्थिक और आत्मिक तथा सामाजिक, सर्वांगीण विकास करना है। ऐसी ही शिक्षा प्रणाली पूर्ण और सार्थक हो सकती है।

राष्ट्रीय एकता और हमारी शिक्षा प्रणाली

आज हमारे सम्मुख जहाँ और बहुत सारी राष्ट्रीय समस्यायें हैं; वहाँ पर राष्ट्रीय एकता की समस्या भी अहम् है। इसके बहुत से कारण है, जिनके बावजूद

यह समस्या हमारे राष्ट्रीय जीवन में और भी उग्र होती जा रही है। इन कारणों में हम भाषा, साम्प्रदायवाद और क्षेत्रवाद जैसी प्रवृतियों को देख सकते हैं। भाषा और धर्म जैसे विषय वैसे ऊपर से संघटनकारी तत्व लगते हैं; लेकिन आज ये किस प्रकार से विघटनकारी सिद्ध हो रहे हैं; यह हमें देखना है और हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति इसमें किस प्रकार दिशान्तरण कर अपना योगदान कर सकती है। यह भी हमें विचार करना पड़ेगा।

सर्वप्रथम हमें राष्ट्र की परिकल्पना या अवधारणा को स्पष्टतया समझना होगा। क्या राष्ट्र केवल कुछ विस्तृत भू-भाग का नाम है या वह भावात्मक प्रत्यय है। आजकल के विचारक राष्ट्र के लिये कुछ समान तत्वों का होना अनिवार्य मानते है वे हैं : एक विशेष अवस्थिति वाला भू-भाग; उस पर रहने वाले एक प्रजाति के लोग और उनकी भाषा, साहित्य और संस्कृति। कुछ विद्वान अब राष्ट्र के लिये सम्प्रभुत्ता का होना भी आवश्यक समझते हैं और कुछ नहीं। लेकिन जबकि अब राष्ट्र-राज्यों की धारणा जोर पकड़ रही है तो हमें प्रभुसत्ता सम्पन्नता को भी एक राष्ट्र की राष्ट्रीय अस्मिता का अंग मानना ही होगा।

अब हमें देखना यह है कि हम ऊपर जो चार तत्व राष्ट्र के स्वरूप-निर्धारण के लिये बतलाए गये हैं; इन पर भारत राष्ट्र खरा उतरना है कि नहीं। यदि कहीं पर इन तत्वों की संहति और संगति में कोई विसंगति या व्यवधान है तो शिक्षा सीमेंट का कार्य करके कैसे उसको जोड़ सकती है। अपने राष्ट्रीय स्वरूप का आकलन करते हुए हम देख सकते हैं कि काश्मीर से कन्याकुमारी तक और पंजाब से आसाम तक भारत एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई है; जिसको तीन ओर समुद्र ने आच्छादित कर रखा है और एक ओर उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत उसके रक्षक के रूप में विद्यमान है। यद्यपि उसके अंतरंग में कहीं पहाड़ है तो कहीं गंगा-यमुना का मैदान है और कहीं पर दक्षिण के पठार। मौसम भी कहीं पर सर्दी अधिक है तो कहीं पर गर्मी अधिक है। इस सबके बावजूद दुनिया के मानचित्र पर भारत एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई है उसमें ऋतुओं का मनोहर चक्र है; जो इस देश के जलवायु की अपनी ही विशेषता है।

दूसरा तत्व है देश में बसने वाले जनगण का। क्या उसमें परस्पर कोई समानता या एकता है? यह एकता क्या प्रजातिगत है? क्या सभी लोग एक ही वंश या जाति विशेष के हैं? क्या ये लोग परस्पर रक्त-सम्बन्ध से परस्पर बन्धे है कि नहीं। भारत में यह चीज भी देखी जा सकती है। यहाँ के देशवासी अधिकांश में एक ही मानव वंश के प्रतीत होते हैं। उनका इतिहास सांझा है। राम और कृष्ण को सभी का पूर्वज माना जा सकता है। पीछे यही होता रहा था; जिसकी वजह से भारतवासी एक रक्त सम्बन्ध के पवित्र सूत्र में बन्धे हुए थे; लेकिन जबसे मुस्लिम लीग ने द्विराष्ट्रीय-सिद्धान्त या दो कौमों का नारा दिया; तबसे यह सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया और यही हमारे भारत के विभाजन का मुख्य कारण भी बना। आज

यह रक्त-सम्बन्ध का सूत्र भी क्यों और कहाँ से टूटने जा रहा है, इसको भी हमें देखना होगा और हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति इसको किस प्रकार सुदृढ़ कर सकती है, यह सोचना है। तीसरा राष्ट्रीय तत्व है, भाषा, धर्म, साहित्य और संस्कृति आदि का। इनकी समानता भी यदि बनी रही तो भी अनेकानेक जाति प्रजातियों के लोग भी एक समाजिक और राष्ट्रीय संगठन के सूत्र में आवद्ध हो जाते हैं। हम देख सकते हैं कि हमारे यहाँ पर बहुत सारी भाषायें हैं, कई धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं; उनकी पूजा-पद्धतियाँ और दार्शनिक चिन्तन सरणणियों में भी पर्याप्त अन्तर है। सब भाषाओं की अपनी लिपि है और पृथक्-पृथक् साहित्य परम्परा है।

सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में भी अनेक विभिन्नतायें हैं। जैसेकि खान-पान की और आचार-विचार आदि की। एक प्रकार से यह देश विविधताओं का देश है। यहाँ पर कदम-कदम पर हर क्षेत्र में हमको भिन्नता दिखायी पड़ती है। लेकिन इन सबके बावजूद भी एक प्रकार की एकता भी यहाँ पर रही है जिसके कारण ही यह इतना बड़ा और वैविध्यपूर्ण महादेश आज तक एक सबल राष्ट्र के रूप में विद्यमान है।

भारत की इस एकता का कारण हमारे विचार से इस देश की सांस्कृतिक परम्परा रही है। राजनैतिक और प्रशासनिक रूप से भारत बहुत कम ही समय तक एक इकाई के रूप में रहा है अन्यथा तो यहाँ पर अधिकांशतया छोटे-छोटे राजतन्त्री राज्य या गणराज्य रहे हैं। ये राज्य भी विभिन्न जाति और धर्म तथा भाषा वाले लोगों के रहे हैं; फिर भी भारत एक राष्ट्र माना जाता रहा है। अंग्रेजी काल में जबकि यह देश परतन्त्रता की बेडियों में जकड़ा हुआ था; तब भी इस देश ने अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को नहीं खोया। इस सबका कारण यहाँ की सांस्कृतिक एकता ही हो सकती है।

लेकिन आधुनिक युग में आकर यह एकता और अखंडता क्यों बधित हुई, हमें इसके कारणों के मूल को खोजना पड़ेगा। मध्यकाल के इतिहास में हम देख सकते हैं कि आक्रांता विदेशी शासकों और आत्मरक्षार्थ सन्नद्ध देशी राजाओं में युद्ध हुए। बाद में भी जो युद्ध हुए तो वह एक समान्त के विरूद्ध दूसरे समान्त के युद्ध कहे जा सकते हैं। वे समान्त दोनों मुसलमान भी होते थे। जैसा कि पानीपत की पहली लड़ाई में बाबर और इब्राहीम लोधी दोनों ही मुसलमान थे, लेकिन इसके बावजूद बाबर की विजय को मुस्लिम इतिहासकारों ने इस्लाम की विजय करार दिया। जोकि किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। शिक्षा में इतिहास का यह दृष्टिकोण अराष्ट्रीय है। यदि बाबर बजाय मुसलमान के हिन्दू भी होता और इब्राहीम चाहे मुसलमान ही रहा होता; तब भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति से प्रेरित इतिहास की सहानुभूति इब्राहीम लोधी के साथ होनी चाहिये। आखिर विदेशी, विदेशी है वह चाहे आपके अपने धर्म का ही क्यों नहीं हो। वास्तव में तो शासक का कोई धर्म ही नहीं होता। उसका मूल धर्म शासन करना होता है; अर्थ संग्रह करके

राज्य-संचालन होता है। वही पुराने जमाने के राजाओं-महाराजाओं, या नवाब और खलीफाओं ने किया और वही अबके राजनैतिक लोग कर रहे हैं। धर्म तो महात्वाकांक्षी शासकों के हाथों में सदैव एक संगठित और सबल अस्त्र रहा है, जिनका जब चाहा एक ने दूसरे धर्म के शासक के विरूद्ध प्रयोग किया है। हां, इतिहास में कुछ अपवाद ऐसे भी है जहाँ पर धर्म ने ही शासकों को परदमन के लिये प्रेरित किया है।

शिक्षा में राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बाधा इतिहास के तथ्यपरक अध्ययन-अध्यापन में आती है; क्योंकि इतिहास होता ही तथ्यात्मक है। अत: उसे झुठलाना भी सम्भव नहीं है। उसको झुठलाना स्वयं सत्य को और अपने आपको ही झुठलाने के समान है। मध्यकालीन इतिहास में धर्म एक ऐसी प्रबल प्रेरक शक्ति रही है कि जिसकी अनदेखी हम किसी भी शासक के मूल्यांकन करने में नहीं कर सकते। जो शासक धर्मान्ध नहीं हुए, समदर्शी थे वे उस समय में भी सभी वर्गों की जनता से समादृत हुए और आज की जनता भी उन्हें आदर्श धर्म-निरपेक्ष शासक के रूप में स्वीकार करती है। अतएव हमें अपनी शिक्षा नीति में धर्म-निपेक्षता पर विशेष बल देना होगा। साम्प्रदायिकता के स्थान पर स्वदेश के प्रति निष्ठा जगानी होगी। इतिहास में ऐसे बहुत से अवसर आये हैं; जबकि हमने साम्प्रदायिकता के कटुफलों को चिरकाल तक भोगा है।

उपरोक्त प्रसंग में हम मध्यकाल का ही एक उदाहरण ले सकते हैं। जब पानीपत की तीसरी लड़ाई होने जा रही थी; तो उसमें मराठों ने अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध उसे विधर्मी मानकर युद्ध करना चाहा और उसी अवसर पर दिल्ली से लालकिले की मोती मस्जिद को तुड़वाकर उससे ६० लाख रुपये की चांदी के सिक्के ढलवा लिये। इस अवसर पर डॉ० बिन्सेट स्मिथ लिखते हैं कि भरतपुर के नीति निपुण जाट राजा सूरजमल ने मराठों को ऐसा न करने का परामर्श दिया था और साथ में यह भी सलाह दी थी कि इसके बजाय हिन्दु-मुस्लिम के देशी और विदेशी का युद्ध मानकर लड़ा जाये; लेकिन मराठाओं ने उस नीतिमान कूटनीतिक की दोनों बातें नहीं मानी और परिणामस्वरूप दिल्ली के रुहेले-अफगान और पठानों ने अब्दाली का साथ दिया और उसकी विजय हुई और मराठों के साथ ही साथ भारत की पराजय हुई। तो अपने इतिहास के अध्ययन-अध्यापन में हमकों ऐसे युद्धों को देशी और विदेशी के युद्धों के रूप में ही वर्णित तथा ग्रहण करना चाहिये।

आजकल हमें जो अपनी राष्ट्रीय एकता असुरक्षित दीख रही है और जो आतंकवाद और अलगावादी हिंसक आन्दोलन और प्रवृतियाँ उभर रही है इन सबका बहुत कुछ कारण हमारी उच्छृंखल राजनैतिक आकांक्षायें ही है। आज हमारा राजनैतिक नेता हर कीमत पर बहुमत चाहता है; वह चाहे किसी को लड़ाकर या भड़काकर मिले या वह किसी को संतुष्ट करके मिले। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि आज भी धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर हमारे यहाँ पर पार्टियाँ चुनाव लड़ती है। जबकि संविधान धर्मनिरपेक्षता की पवित्र घोषणा करता है।

आज हमारे राष्ट्रीय जीवन में बहुत सारी विसंगतियाँ है; जिसके कारण कटुता और अलगाव की भावना बढ़ती जा रही है और तभी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता सन्दिग्ध हो रही है। ऐसी स्थिति में हमें सर्वप्रथम तो अपनी शिक्षा के द्वारा अपने देश के नागरिकों में राष्ट्रभक्ति जगानी होगी; उनमें स्वस्थ लोकतांत्रिक राजनैतिक चेतना का स्फुरण करना होगा। धर्मानिपेक्षता के जीवन-मूल्यों का विकास हमें आज अपनी शिक्षा से करना है। अपने देश के लोगों में यह भावना भरनी होगी कि हम अपनी अलग-अलग पहचान और विशेषताओं के चलते हुए भी एक हैं। हमारी अनेकता में भी एकता है। इस एकता स्थापन का कार्य शिक्षा, धर्म, संस्कृति और राजनीति के स्वस्थ पठन-पाठन से सम्भव कर सकती है; जिससे कि हमारे धर्म, सम्प्रदाय और भाषा हमें तोड़ने के स्थान पर जोड़ने का कार्य करें। यही सबसे बड़ा योगदान शिक्षा का राष्ट्रीय एकता के क्षेत्र में हो सकता है। इसी में उसकी सार्थकता निहित है।

अध्याय ७

सती प्रथा

हमारा भारत सदा से ही एक धर्मपरायण देश रहा है। धर्म ने उसको जीवन दिया है, जीवन की दिशा और दृष्टि भी दी है। लेकिन रूढ़ीवाद धार्मिक परम्पराओं के नाम पर यहाँ अंधविश्वासों का भी बोलबाला रहा है। इन्हीं अंधविश्वासों ने बहुत सारी कुप्रथाओं को जन्म दिया है जिनमें से सती-प्रथा भी एक है। यह कुप्रथा आपद्-धर्म के रूप में हिन्दू समाज में आयी थी। जब विदेशी आततायी आक्रांताओं के वर्बर आक्रमण भारतीय राज्यों पर होते ने तो युद्ध में राजाओं की मृत्यु के बाद उनकी रानियाँ भी अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्मदाह कर लेती थी। यह आत्मदाह ही सतीत्व की रक्षा का एकमात्र अमोध उपाय उस समय रह गया था। अतएव यह कुप्रथा कोई हमारे भारतीय धर्म ग्रन्थों या शास्त्रों की देन नहीं, यह तो मध्यकालीन मानसिकता की उपज रही है।

हालांकि इस आत्मदाह को महिमामंडित करने के लिए रामायण और पुराणों तक में सती प्रथा का उल्लेख कर दिया गया, परन्तु वह सब प्रामाणिक नहीं है। जैसे कि शिव पुराण में पार्वती के सती होने का वर्णन आता है। आप बताइये यदि पति की मृत्यु के बाद ही स्त्री का सती होने का नियम था तो पार्वती शंकर जी के जीवित रहते भी सती क्यों हो गयी? इसलिए हम इन उदाहरणों को सतीत्व का उदाहरण न मानकर आत्मदाह और आत्महत्या कहेंगे। वेद भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल-स्तम्भ हैं, उनमें भी कहीं पर इस प्रथा का नाम तक नहीं है। लेकिन ढोंगी और पाखंडी लोगों ने इस कुप्रथा की जड़ें कहीं भी ढूंढ निकाली है। आगे हम इस बात को प्रमाण सहित सिद्ध करना चाहेंगे।

युद्ध में मारे गये एक पति के पास रोती हुई बिलखती हुई स्त्री को वैदिक पुरोहित कहता है कि हे वीरभार्या। अब तुम इस मृत पति का दामन छोड़ दो; क्योंकि इसके साथ तुम्हारा लोकाचार पूरा हो चुका है और अब जो तुम्हारे बच्चे और कुटुम्ब सम्बन्धी शेष बचे हैं, उनकी चिंता करो, उनकी पालना करो; बल्कि विधवा नारी को यहाँ तक कहा गया कि "आरोह योनि अग्रे" हे स्त्री। तुम इस विपत्ति की घड़ी में आगे बढ़कर आओ अपने साहस और धैर्य का परिचय दो। परन्तु पाखण्डी पण्डों ने आरोह योनि अग्रे का आरोह योनि अग्ने कर दिया और इसे सती प्रथा का पुष्ट प्रमाण बना लिया। इस तरह के वेद शास्त्रों के वाक्यों और

अर्थों को तोड़-मरोड़कर भी इन ढोंगी धर्मधारियों ने हिन्दू समाज का और नारी जाति का भयंकर अपकार और अहित किया है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों—श्रुति स्मृति में नारी के गौरव का गान किया गया है। उसे मात्र जननी ही नहीं बल्कि माता कहा गया है और माता को समाज की निर्माता कहा गया है। इतना ही नहीं मनुस्मृति में तो यहां तक कहा गया कि—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता,
यत्रैतास्तु त पूज्यन्ते विफलास्तत्र सर्वा क्रिया ।।

अर्थात् जिस परिवार और समाज में नारी का सम्मान होता है, सत्कार होता है, वहां पर दिव्य-गुणों का निवास रहता है वहां सभी सुख और समृद्धियां बसती हैं ओर जहाँ पर उनका अपमान और उनके साथ अन्याय होता है, उन परिवारों के सारे क्रिया-कलाप व्यर्थ होते हैं। वहाँ कष्ट और कलह के सिवाय और कुछ नहीं बचता। लेकिन क्या मनुस्मृति के इस उपदेश का पुरुष समाज ने कभी पालन किया है? कहने को उसने उसे गृहलक्ष्मी बना दिया, लेकिन आचरण उसके साथ सदैव ही गृहदासी का सा होता रहा है। पुरुष प्रधान समाज से उसे सदा-सदा अवमानना भरी हेय दृष्टि से देखा है। मनुस्मृति के ऊपर कहे उद्देश्य को अपनाने के स्थान पर पुरुष वर्ग ने उसके इस आदेश को अपनाया कि "ना हि स्वातंत्र्यंऽर्हति नारी क्वचित्" अर्थात् नारी कभी भी और कभी भी पूर्णतया स्वतंत्र नहीं रह सकती। बचपन में वह पिता के आधीन रहती है, यौवन में पति की वशवर्तिनी बनकर रहती है और वार्द्धक्य में पुत्र का सहारा लेती है। क्या उसे कहीं भी स्वतंत्रता है? उसकी इस परवशता और पराधीनता को देखकर ही तो शायद तुलसीदास जी ने कहा था—

"कतविधि नारी सृजी जग मांहि।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहि ।।

स्त्री की पराधीनता की पराकाष्टा यह सती प्रथा है। जीते-जी तो वह पुरुष की चेरी बनकर रहती है, मरने के बाद भी न चाहते हुए ही उसे अपने आपको पुरुष की चिता पर आहूत होना पड़ता है। जीवन सभी को प्यारा लगता है। इस दुनिया में कोई भी मरना नहीं चाहता, सब जीना चाहते हैं और जीने का अधिकार जीव-मात्र का सर्वोपरि अधिकार है; लेकिन इस दम्भी पुरुष प्रधान समाज ने तो उससे उसका यह अधिकार भी छीनकर उसे असहाय और निरीह तथा बेसहारा और सर्वहारा बना दिया है इससे ज्यादा घृणित और कुत्सित प्रथा समाज में और कोई हो नहीं सकती। यह प्रथा हमारे समाज का गलित अंग है, इसका शीघ्रातिशीघ्र अच्छेद कर देना होगा, नहीं तो यह सारे समाज को नरक के कगार पर लाकर खड़ा कर देगी।

सती प्रथा के नाम पर इस देश में नारियों पर बड़े-बड़े जुल्म ढाये गये हैं। रोती बिलखती हुई विधवाओं को धधकती हुई चिता की अग्नि में फेंक दिया जाता है।

उसके हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं, ताकि वह बचकर न निकल भागे। उसको नशीली दवाईयां खिलाकर बेहोश करके अग्नि में रख दिया जाता रहा है। मार-मार कर पीट-पीट कर उसको सती होने के लिए विवश किया जाता रहा है। सती प्रथा के लिए विवश किया जाता रहा है। सती प्रथा के इतिहास को देखने से हमें नारी की इस दारूण दशा का पता लग सकता है। नारी जाति पर इन्हीं अमानवीय अत्याचारों को देखकर ही तो राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने मर्मभेदी शब्दों में नारी की व्यथा-कथा कही है—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।"

इस घृणित सता प्रथा के नाम पर होने वाले अमानुषिक अत्याचारों को देखकर राजा राममोहन राय का हृदय मर्माहत हो उठा था। उन्होंने जब अपने बड़े भाई की मृत्यु के बाद अपनी भाभी को अपनी नंगी आंखों से आग को बलात् भेंट करते हुए देखा था तो उनका दिल दहल उठा था, मन कातर हो गया था। इसीलिए उन्होंने १८२९ में लार्ड वैंटिक से इस कुप्रथा पर कानूनी रोक लगवाई थी। उसके बाद से यह प्रथा कुछ अंशों में कम हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सती प्रथा को धर्म-शास्त्रों के विरुद्ध प्रतिपादित करके दिखाया था। पुनर्विवाह और नियोग का नियम बनाकर उन्होंने नारी जाति की मुक्ति का द्वार खोला था। नारी-शिक्षा का प्रचलन किया था। अतएव नारी-जाति इन दोनों महामानवों की युगों-युगों तक ऋणी रहेगी। आज भी हमारे समाज को ऐसे युग पुरुषों की नितान्त आवश्यकता है। सती प्रथा के विरुद्ध कानून बने डेढ़ सौ वर्ष के लगभग हो गये; लेकिन इस अंतराल में भी यह प्रथा हिन्दु समाज में कोढ की तरह रह-रहकर उभरती रही है। आज जब हम इक्कीसवीं शदी में पहुँचने की तैयारी कर रहे हैं, तब भी यह कुप्रथा विकराल रूप धारण करके हमारे सम्मुख आयी है। राजस्थान के दिवराला गांव का सती कांड हमारे सामने है, जिसने सारे भारतीय जन-मानस को झकझोर डाला। इसने एक बार फिर हमें मध्यकालीन सामंती व्यवस्था की ओर पीछे धकेल दिया है। इससे हमारी सारी वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रगति और उन्नति पर प्रश्न-चिन्ह लगाया है। क्या किसी भी विकासमान प्रगतिशील राष्ट्र के लिए ये घटनाएं लज्जा की बात नहीं है? तिस पर भी समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग जो अभी तक सामंती सोच को पाले हुए है, मध्यकाल की प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा है। इसका सबल प्रमाण पुरी के शंकराचार्य द्वारा सती निरोधक कानून का विरोध और राजस्थान के राजपूतों द्वारा सती के समर्थन में किये गये प्रदर्शन है। लेकिन हमें इन बातों से घबराना नहीं है। हर समाज में प्रगतिशील और ह्रासशील विचारों के व्यक्ति होते हैं। आज हमें समाज के इस प्रथा के विरुद्ध प्रबल और प्रबुद्ध जनमत का जागरण करना होगा। सती का सही अर्थ लोगों को समझाना पड़ेगा।

सती का अर्थ आत्म दाह नहीं; बल्कि जीवित रहकर पति के प्रति निष्ठावान और सेवाभावी होना है। जिस प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष को यती कहा जाता है : उसी प्रकार से संयमी स्त्री को सती कहा जाता है। प्राचीन सतियों में अनुसूया, लोपामुदा, मदालसा, गार्गी, भारती, द्रोपदी और सीता तथा सावित्री का आदर्श हमारे सामने है। केवल कानून बनाने से इस कुप्रथा का निवारण नहीं होगा। इसके लिए सामाजिक जागृति की जरूरत है। जन-चेतना को जगाना होगा और उनमें यह आत्मविश्वास जगाना होगा : जिस देश की नदियाँ अमृत-सा नीर पिला सकती है; जिस देश की माताएं अपनी गोदी में भगवानों को खिला सकती है; उस देश की नारी धरती तो क्या आकाश हिला सकती हैं।

अध्याय ८

सन्तुलित-जीवन

मानव जीवन भी एक तुला-यन्त्र का उपमान है। यद्यपि तुला की अपेक्षा में इसके पलड़े जिन्हें हम पक्ष (espects) भी कहते हैं। इनमें समुचित सन्तुलन की अतीव आवश्यकता है। संक्षेप में जीवन के इन विभिन्न पहलुओं पर हमें यहाँ विचार करना है।

ये पक्ष जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान हैं लेकिन आवश्यकता है इनको जानने की और इनका सुनियोजित सन्तुलन करने की। इनकी साम्यावस्था ही तो स्वस्थ जीवन है और इनकी विषमता ही अव्यवस्था का चक्र मात्र है जो लक्ष्य-विहीन होकर दिग्भ्रमण करता हुआ फिरता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ये नाना पक्ष हैं जैसे कि कर्म-क्षेत्र में श्रम और सुख, शरीर और बुद्धि, हृदय और मस्तिष्क हैं। सामाजिक जीवन में व्यष्टि और समष्टि हैं। गृहस्थ जीवन में भी नर और नारी है, पोषक और पोष्य हैं युवा और वृद्ध हैं, स्वजन और परिजन हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी पठन और मनन हैं गुरु और शिष्य हैं मात्र इतने विषयों क्षेत्रों की बात ही नहीं जीवन का प्रत्येक क्षेत्र आपको इन तत्वों से परिपूर्ण मिलेगा जो असंख्य और अनन्त हैं।

इन मौलिक तत्वों के समुचित सामंजस्य के अभाव में जीवन में अव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। आप समाज की छोटी से छोटी इकाई परिवार को ही ले लीजिये। यदि परिवार में स्त्री-पुरुषों या पालक पोष्यों का सामंजस्य नहीं होगा तो जैसे मानों किसी परिवार में मात्र पुरुषों का ही आधिपत्य हो जाता है तो स्त्रियों की स्थिति वहाँ पर अच्छी नहीं रह जायेंगी उन्हें दासी जैसा जीवन जीना पड़ेगा। स्त्री पुरुषों का परस्पर के व्यवहार में भी विषमता आ जायेगी परिणाम स्वरूप घर में सुव्यवस्था और शांति स्थापित नहीं हो सकेगी।

जीवन बड़ा ही व्यापक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सन्तुलन की आवश्यकता होती है। नितान्त भोग और एकान्त भोग व्यावहारिक जीवन में नहीं चल सकते। जीवन में त्याग और भोग दोनों का ही अपना स्थान है। पाश्चात्य दृष्टि और मध्यकालीन भारतीय जीवन-दृष्टि का मूलभूत भेद यही रहा। पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति जहाँ पर नितान्त भोग पर जोर देती है; वही पर भारतीय मध्यकालीन धर्म-साधना एकान्त योग का ही बखान करती रही। परिणाम स्वरूप पश्चिम के लोग तो भोग के कीड़े बनकर अज्ञान और अविद्या में बिल-बिलाते रहे इधर भारतीय सारे ब्रह्म बनकर बैठ गये।

हमने सांसारिक क्रिया-कलापों में रुचि नहीं दिखाई। भोगों से पूरी तरह

विरक्ति दिखलाई । हमने अपने कृषि-कर्म, कला-शिल्प, उद्योग और व्यवसायों में परिश्रम करना कम कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप आर्थिक निर्धनता मिली। हमने इहलोक की अपेक्षा परलोक में अधिक रुचि दिखलाई। इस लोक में हम चाहे भूखे-नंगे, अभाव ग्रस्त जीवन जीते रहे। इसकी दशा सुधारने का कोई भी व्यक्तिगत या सामुदायिक प्रयास हमने नहीं किया। इस निरी धार्मिक साधना ने हमें पूर्णतः अन्तर्मुखी बना दिया। हम अपने सामाजिक और राजनैतिक जीवन से अलग थलग पड़ गये। राष्ट्रीयता की भावना का उन्मेष भी हमें नहीं हो पाया। अतएव जब कभी बाह्य, आक्रान्त आया तो हमने कभी मिलकर उसका मुकाबला नहीं किया। सामाजिक और राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में हमारा विकास अवरुद्ध हो गया। इस एकान्त त्याग वाली वृत्ति ने हमें गरीबी और भुखमरी और बदहाली की कतार में लाकर खड़ा कर दिया। क्योंकि हमने योग का भोग से तालमेल नहीं बिठाया था।

दूसरी ओर भौतिकता की चकाचौंध में चमत्कृत आज के पाश्चात्य देशों के लोगों के जीवन को देख सकते हैं। वहां पर भौतिकता का बोलबाला है। इन लोगों का मूल मन्त्र—खाओ, पीओ, और मौज करो (Eat, drink and be marry) है। वहां जीवन में भोग का अत्यधिक महत्व है। संयम नाम की चीज को वे लोग नहीं जानते। प्रत्येक वस्तु को उसकी चरम उपयोगिता सीमा तक भुक्त करना वे अपना परम धर्म समझते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि किसी वस्तु को जब हम उसकी चरम सीमा तक भोग लेंगे तो एक स्थिति के बाद उससे हमारी संतुष्टि हो जायेगी और फिर हमें उस चीज की फिर इच्छा नहीं होगी। लेकिन अक्सर ऐसा होता कहाँ है। आज जिस चीज को हम एक बार बरत लेते हैं तो कुछ दिनों के बाद बार-बार उसे पाने की हमारी इच्छा होती है। अतएव पूर्ण तृप्ति अथवा संतुष्टि तो उसके सीमित भोग से ही हो पाती है।

इसी दृष्टि के चलते आज पश्चिम का मनुष्य खोखला लगता है। भोगों ने उसे खा डाला है। आज के लोग शारीरिक सुखों में पूर्ण आनन्द न पाकर आध्यात्मिकता की ओर लौट रहे हैं और भारतीय लोग नितान्त निवृत्ति मूलक नैतिक परम्परा से हटकर पाश्चात्य भोगवादी वृत्ति को अपनाते जा रहे हैं। इसी समय के सन्दर्भ में हम इन दोनों प्रकार की जीवन दृष्टियों की सीमाओं को समझ सकते हैं। ये दोनों एक दूसरे की विरोधी न होकर पूर्णतः पूरक हैं। आवश्यकता केवल इन दोनों के समुचित संतुलन स्थापित करने की है। आज इस संतुलन के अभाव में ही हमारा जीवन हमें अधूरा-अधूरा सा लगता है। केवल आर्थिक अभाव ही एक मात्र अभाव नहीं है। जीवन में संघर्ष का अपना महत्व है। मानव की विकास-यात्रा में इसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मानव ने संघर्ष करके ही अपने सांसारिक जीवन को इतना सुखी और समृद्ध बनाया है। संघर्ष चाहे सामाजिक हो या वैयक्तिक इससे कुछ न कुछ मिलता ही है। लेकिन अनावश्यक संघर्ष भी कई बार इस जीवन में आ बैठते हैं

जोकि कदापि उपयोगी नहीं होता। अच्छी बात के लिये हम लड़ें यह उचित है, लेकिन हर बात पर जिद करना और झगड़ना व्यर्थ है। कई बार तो हम अपने अहं को लेकर ही संघर्षरत हो जाते हैं। ऐसे संघर्षों से शक्ति का अपव्यय ही होता है।

जीवन में समन्वय अथवा समझदारी का भी कम महत्व नहीं होता। हम चाहे जितना भी संघर्ष करें, हमें एक सीमा पर जाकर समझौता करना ही पड़ता है हाँ समझौता सम्मानपूर्वक हों यह तो वांछनीय है लेकिन यह आग्रह की हमें समझौता करना ही नहीं है—उचित नहीं है। आखिर हमें सामाजिक जीवन जीना है। लोकधर्म का निर्वाह करना है। अतएव थोड़े बहुत मतभेदों के बावजूद भी हमें सामाजिक शिष्टाचार को तिलाजलि नहीं दे देनी चाहिए। इस बात का प्रमाण हमारे धर्म ग्रन्थ और इतिहास देते हैं। महाभारत में चरम-संघर्ष की स्थिति में भी एक दूसरे के प्रति वाग्व्यवहार में कदापि अभद्रता का प्रदर्शन नहीं होता। मनोमालिन्य और कटुता ये कोई स्थायी भाव नहीं है, अतएव हमें किसी के द्वारा क्रोध या आवेश में कहे शब्दों पर भी ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिये। मतभेदों के चलते भी मनभेद नहीं होना चाहिये। भारतीय परम्परागत शिष्टाचार तो यही है। केवल तर्क और बुद्धि से भी हम काम न लें। भावनाओं का भी अपना स्थान है। कर्त्तव्य और भावना के मध्य भी हमें समन्वय स्थापित करना चाहिये। श्रद्धा और मेधा, अर्थ और काम, निश्रेयस् और अभुदय के समुचित सन्निदेश से ही जीवन संतुलित और समरस बनता है।

परम पुरुषार्थ को प्राप्त करो

ओं वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

य० अ० ३१/म० १८

भारतीय मनीषा जीवन को केवल एक चेतनतायुक्त भौतिक अवशेष भर नहीं मानती। जैसा कि पाश्चात्य लोग खाना-पीने और सोने को ही जीवन मान बैठते है उनका जीवन-दर्शन Eat drink and be marry है। खाओ पीओ और मस्त रहो, बस इससे आगे उनके लिये जीवन में और कुछ प्राप्य है ही नहीं; जिसका कि साधन-आरधन करें। उनका संसार केवल पाँच महाभूत विनिर्मित भौतिक स्थूल दृष्टि सृष्टि तक सीमित है। इसलिये वे लोग इसी को अपना परम साध्य और परम पुरुषार्थ माने हुए है। अधिक से अधिक भौतिक सुख साधन जुटाना ही उनका एक मात्र उद्देश्य रहता है। जीवन स्तर को अधिक से अधिक समुन्नत बनाना ही उनकी उन्नति का पर्याय है। इसलिये योरोपियन लोग जीवन भर सुख सुविधाओं की दौड़ में लगे रहते हैं और वे उसमें बहुत कुछ सफल भी हो जाते हैं; लेकिन परिणाम वही होता है 'खोदा पहाड़ पर निकली चुहिया' ऐश्वर्यों के जिस अम्बार में वे जिस सुख की तलाश करते हैं, वह उन्हें मिल नहीं पाता। जो सुख उन्हें मिलता है, वह

बड़ा अस्थायी होता है। वह अस्थायी आनन्द भी दुख-सुख मिश्रित होता है। एकान्त समरस नहीं। आज जहाँ पर खुशियों का आलम है; वहीं पर कल को रंजो गमो का मातम भी है। किसी उर्दू कवि ने कहा भी है—

"खुदा देता है जिनको ऐश वहाँ पर गम भी होते हैं।
जहाँ बजते हैं नक्कारे वहाँ मातम भी होते हैं।।"

इस तरह यह अपार वैभव राशि का अम्बार भी मरुस्थल सा नीरस ही सिद्ध होता है; क्योंकि इनकी मृग मरीचिका में भटक कर भी मानव रूपी मृग जल रूपी परमानन्द को नहीं प्राप्त कर पाता। इनमें सुरखी अनुभव करते हुये भी मनुष्य के सिर पर कराल काल की कुटिल कटारी नग्न रूप में लटकती दिखाई देती रहती है; इसलिये यह सांसारिक सुख स्थायी और वास्तविक नहीं; बल्कि अस्थायी और अवास्तविक हैं। इनके लिये कवि कबीर जी क्या कहते है—

"झुठे सुख को सुख कहें मानत है मन मोद।
खलक चबैना काल का कुछ मुख में कुछ गोद।।"

अर्थात् ये संसार के सुख तो झूठे हैं। बाहर से सुखमय लगते हुये भी अन्त में ये विषम परिणामी है। यह संसार ही सारा काल के चबैने (चने) के समान है। जिसको वह नित्यप्रति चबाता रहता है, कुछ को तो उसने चबा लिया है और कुछ उसकी गोदी में है; वह भी कुछ समय पश्चात उसकी दाढ़ का ग्रास बन जायेगा।

इस सब का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि तुम बिल्कुल निर्धन साधनहीन होकर ही जीओ। भारतीय जीवन-दृष्टि भी साँसारिक सुख समृद्धि की बात कहती है। लेकिन वह एकान्त और उन्मुक्त भोग की बात नहीं करती। हमारे यहाँ तो धर्म का भी लक्षण हमारे ऋषियों ने मतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि स धर्म इति निश्चय किया है। कि जिससे सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निश्रेयस की सिद्धि हो—वही तो धर्म है। इस प्रकार साँसारिक समुन्नति की बात का विरोध भारतीय मनीषा नहीं करती। वह तो सांसारिक जीवन की मंगल कामना नित्यप्रति वेद के स्वरों में जीवेम शरदःशतं, शृणुयाम शरदः शतं, अदीना स्याम शरदः शतं और स्तयत्कामास्ते जुहुमस्तस्नो ऽस्तु वयं स्याम पतयो रयिणामऽ—कहकर करती है। जिसका अर्थ है कि हम नित नूतनता भरा चिर जीवन प्राप्त करें और किसी भी तरह से दीन-हीन न हो पुत्र-पौत्र, बन्धु-कलत्र, द्रव्य, धन-धान्य आदि जिसकी भी हम कामना करें वह सब हमें पर्याप्त परिमाण में प्राप्त हों। लेकिन इतना सब होने पर भी भारतीय मनीषियों ने इन भौतिक सुख-साधनों को पर्याप्त नहीं माना। उन्होंने इनको आवश्यक तो माना पर अन्तिम नहीं। साधन तो माना पर साध्य नहीं। बस यहीं, इसी केन्द्र बिन्दु पर आकर भारतीय जीवन दृष्टि और पाश्चात्य जीवन दृष्टि में एक विभेदक-रेखा खींच जाती है; जो कि दोनों को दो समानान्तर विरोधी दिशाओं में ले जाती है। उन लोगों का अन्तिम साध्य आखिरी

मंजिल यही है। यही तक उनकी जीवन-यात्रा पहुँच कर समाप्त हो जाती है। इन्हीं भोग-विलासों की चकाचौंध को ही वे लोग अन्तिम सत्य और अन्तिम सुख मान लेते हैं और भोगों का निरन्तर भोग करते हुए कुछ समय पश्चात वे लोग भोगों से ही भोगे जाने लगते हैं; जैसा कि भतृहरि जी महाराज ने कहा है—

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥"

कि भोगों ने हमको नहीं भोगा; बल्कि भोगों ने ही हमको भोग लिया है। तृष्णा क्षीण नहीं हुई; बल्कि उसको शान्त (क्षीण) करने के चक्कर में हम स्वयं ही क्षीण हो चले हैं। इस प्रकार योरोपीय देशों की उन्मुक्त भोगवादी प्रवृत्ति स्वयं में अति और अशान्तिकर है। यह अति भोगवादी प्रवृत्ति ही आज के मानव की सबसे दुरन्त समस्या है; जोकि उसको वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय एवं मानसिक स्तर पर बेचैन बना रही है। अस्तु।

भारतीय विचारकों ने जीवन की इस अर्ध सुखद अस्थायी स्थिति का स्वामी और पूर्ण सुखद सुनिश्चित और समुचित हल निकाल लिया है और वह है उनके द्वारा उक्त परम पुरुषार्थ मोक्ष।

सांसारिक इहलौकिक जीवन के अभ्युदय के लिये तथा पारलौकिक निश्रेयस के लिये पुरुषार्थ चतुष्टयं की संकल्पना की है इसमें से पहले तीन धर्म (विद्या) अर्थ, काम क्रमशः जहाँ पर इहलौकिक जीवन की चहुँमुखी उन्नति के साधक हैं वहीं पर मोक्ष (मुक्ति) मानव की पारलौकिक उन्नति का पर्याय है। उसी के लिये उपरोक्त वेद मन्त्र में यह चेतावनी दी गई है कि परमान्द की प्राप्ति का इसके सिवाय और कोई मार्ग ही नहीं है साधन ही नहीं है जन्म-मरण के इस जंजाल से छूटने के लिये उस ज्योतिमय ज्ञानरूप को जानना अनिवार्य है। क्योंकि वह सभी प्रकार के अन्धकार अज्ञानादि से परे है। वही सबसे महानतम है उसके समान और कोई भी महान नहीं है इसलिये हमें उसी की शरण लेकर उसकी उपासना करके उसको जानना चाहिये। उसको जानकर इस मृत्यु के महाक्लेश से छुटकारा पाया जा सकता है। वेद में अन्यत्र भी कहा है "तमेव विदित्वा न विभाय नृत्योरात्मानं धीरं अजरं युवानम्।" वह रसपूर्ण है आनन्द मय है अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्त न कुतश्च नोन' उस रस रूप को पाकर ही आनन्द के सिन्धु में गोता खाकर व्यक्ति अभय होकर परम सुख को प्राप्त हो सकता है जो कि उसका परम साध्य परम पुरुषार्थ है इसके सिवाय और कोई अन्य रास्ता नहीं है।

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, ओमप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रक[illegible]

अमर ज्योति प्रकाशन में प्रकाशनाधीन अन्य पुस्तकें

१. निराकार की उपासना — ले०—डॉ० ओम दत्त शर्मा
२. पृथ्वी का स्वर्ग (गृहाश्रम) — ले०—डॉ० ओम दत्त शर्मा
३. गीत महाभारत (प्रथम भाग) — ले०—पं० शोभा राम प्रेमी
४. बहिनों के गीत — ले०—श्रीमती राजबाला आर्या
५. योग-आसन प्रदीपिका — ले०—आचार्य सोम
६. स्वामी दयानन्द की वेदों की यथार्थवादी व्याख्या की दार्शनिक समीक्षा (शोध ग्रन्थ) — ले०—डॉ० ओम दत्त शर्मा
७. स्वामी दयानन्द का त्रैतवादी दृष्टिकोण (एक समीक्षात्मक ग्रन्थ) — ले०—डॉ० ओम दत्त शर्मा
८. वेद परिचय — ले०—डॉ० ओम दत्त शर्मा
९. स्वामी दयानन्द का समाज-दर्शन — ले०—डॉ० वेद प्रकाश गुप्त
१०. योगिराज श्री कृष्ण का जीवन चरित् — ले०—डॉ० वेद प्रकाश गुप्त

हमारा लक्ष्य—स्वस्थ वैदिक साहित्य का प्रकाशन

अमर ज्योति प्रकाशन, मेरठ
